श्रीधर पाठक

परिचय

...न० १९१६ मृत्यु सं० १९८९

पाठक जी के पिता का नाम पं० लीलाधर था। इनकी ...द्धि बड़ी तीव्र थी। वे प्रथम श्रेणी में एन्ट्रेंस पास हुए थे। इनका स्वभाव सरल और आडंबर-हीन था। इन्हें स्वच्छता और परिष्कार बहुत पसंद था। पाठक जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में रचना की है। इन दोनों काव्य-भाषाओं पर कवि का समान अधिकार था। वे खड़ी बोली के आचार्यों में गिने जाते हैं। इन्होंने ही पहले-पहल खड़ी बोली में लम्बी कविताएँ लिखी थीं। खड़ी बोली के आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'श्रीधर-सप्तक' शीर्षक कविता में उन्हें हिन्दी भाषा का जयदेव कहा है। श्रीधर जी की कविताओं में अधिकांश अनूदित हैं। ...नमें आंग्ल-कवि गोल्डस्मिथ के प्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद— ...एकान्तवासी योगी' 'श्रान्त पथिक' और 'ऊजड़ ग्राम' बहुत ...सिद्ध हैं। कालीदास के 'ऋतु-संहार' के कु...शों का ...वाद ...भी उन्होंने अत्यन्त सरस सवैयों में किया है ... प्रकृति ...के पुजारी थे। उनकी 'काश्मीर-सुषमा' और 'देहरादून' ...क ...कविताओं में प्रकृति का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है। उनकी ...न्य कविता-पुस्तकों में 'गोखले-प्रशस्ति' और 'भारत-गीत' ...शेष उल्लेखनीय हैं। पाँचवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आप ...पति थे।

Book No:- ... by Sri P.N. Pandit ... Jammu.

ऊजड़ गाम

पूर्व स्मृति

जहां रसीली ऋतु बसन्त पहले ही आवत ।
जान समय विलमाय फूल फल देर लगावत ॥
प्यारी प्यारी वे मड़क हरियाली कुञ्जें ।
सोभा छवि आनन्द भरीं सब सुख की पुञ्जें ॥
निर्दूषन निश्चिन्त जनन के मन की भावनि ।
मेरी लरिकाई की बैठक भूमि सुहावनि ॥
खेलमात्र जब नाम लेत लागत हो प्यारौ ।
समय सबै बीतत हो आनंद सहित सुखारौ ॥
कितनौ मैं डोल्यौ हूँ तेरे हरित थलन में ।
जहां लगें सब दृश्य दीनसुख सों प्रिय मन में ॥
ठहर्यौ कितनी बार निहारत प्रति सुघराई ।
छांहयुक्त कहुं कुटी कहूं कृषि भूमि निकाई ॥
सदा बहत जलस्रोत, चलत पनचक्की सोहै ।
पास पहाड़ी ऊपर गिरजाघर मन मोहै ॥
जहां वृद्ध बातून विविध बातें बतरावत ।
नेही निज प्यारीन श्रवन निज नेह सुनावत ॥
कितिक बार पुनि पेख्यौ है वा दिन कौ आवन ।
जा दिन श्रम के ठौर खेल मचतो मन भावन ॥
मिलिकें सब ग्रामीन काम श्रम बन्धन छोरी ।
सुघर समाज बनाय जात हे वृच्छन ओरी ॥
विस्तृत छाया बीच अनेकन खेल मचावत ।
युवा करत तहं होड़ वृद्ध निरखत सुख पावत ॥

ा नाच कूद आनँद अठखेली ।
तहि ठौर ललित लीला अलबेली ॥
के खेल बहुरि नट विद्याहू के ।
रज उपजावन भावन मन सब काहू के ॥
१० बार बार करि खेल एक जब हीं थकि जाहीं ।
करन दूसरे की उमंग उपजै मन माहीं ॥
नाचन हारेन की जोड़ीं जो चहत बड़ाई ।
नाचत नाचत एक दूसरे हि देत थकाई ॥
अवलोकिय पुनि छैल जासु मुख करि चतुराई ।
काहू ने काहू विधि सों कारोंछि लगाई ॥
ताहि न याकौ ज्ञान, लखत जब लोग लुगाई ।
मचत गुप्त मृदु हँसी चहकि चहुँ ओर सुहाई ॥
सकुचीली कारिन की पुरुषनपै बगलौंही ।
चाहभरी देरलौं चारु चितवन तिरछौंही ॥
महतारिन करिकें तिन कौ आंखिन में तर्जन ।
बेटिन को अनुचित अनुचित बातन सों बर्जन ॥
रहीं सबै ये बात गाम तेरी मनहरनी ।
ये कौतुक ये लीला उर अति आनन्दकरनी ॥
बारी बारी आय लगत हीं सब कों प्यारी ।
श्रम हूं कों सुख ही सुख देन सिखावनहारी ॥
ये तुअ कुञ्जन विषैं पुञ्ज आनँद बरसावहिं ।
मन रञ्जन मोहनी मञ्जु सोभा सरसावहिं ॥
सो तेरी सब बात सकल मनमोहनहारीं ।
अपनो ठाम विहाय, हाय ! सुर धाम सिधारीं ॥

ग्राम उपदेशक

वहां, जहां कछु बिरले बिरवा ठौर
रह्यौ ग्राम उपदेशक को घर सुघर सुहा
बस्तिन सों बहु दूरि धर्म में आयु बितावत
निजपद कबहु न तज्यौ न त्यागन कों मन लावत ॥
स्वारथ साधन काज न करन खुसामद जानै।
ना अवसर अनुसार पलटि मत मारग मानै ॥
कछू और ही बात बसत ही वा हिय माहीं।
दुखियन पै जो ध्यान तितौ निज ऊपर नाहीं ॥
मंगवैया फिरवैया वाकौ घर पहचानैं।
बरजै तिन को डोलन सो, पै दुख हरि जानैं ॥
होय पुरानौ पहचानौ पाहुनौ भिखारी।
छाती लौं है फैली जाकी डाढ़ी भारी ॥
दिवालिया अतिव्ययी गरब टूट्यौ है जाकौ।
आवै पावै तहाँ सबै सुख निजजन ताकौ ॥
छीन हीन बल जोधा वा के घर जो आवै।
कृपा सहित आदर सों अपने ढिंग ठहरावै ॥
अगिहाने पै रात रात भरि तासु कहानी।
सुनै शोक सों भरि वीरता के रस सानी ॥
घायन के लगिबे के छिन कौ दुख दरसावन।
युद्ध समय के घात, मोरचा शत्र नसावन ॥
वैसाखी धरि कन्ध शस्त्र चातुरी दिखावन।
किमि जीते रन खेत बड़ी विधि सों समझावन ॥
अपने इन अतिथिन सों ह्वै प्रसन्न सो सज्जन।
उनके दुख में भूलि जाय उनके दूषणगन ॥

ग्राम अध्यापक

...ढंग तहां शब्द पूरित मन्दिर महि ।
...ढ़ावत गुरु आपनी लघु चटसालहि ॥
...न में परवीन, चलन में अति निरदूखौ ।
...ह्यौ एक वुह कठिन पुरुष, देखन में रूखौ ॥
जानत हो मैं भली भांति सों वाहि सदा ही ।
अरु प्रत्येक खिलाड़ी पहचानत हो ताही ॥

दण्डपायवेधारे बालक वा मुख माईं ।
प्रात समय लखि जानत हे दिन की कठिनाई ॥
बहुत हंसत हे सबै, ऊपरी हर्ष दिखाई ।
वाकी सब हंसिन पै, ही जिन की बहुताई ॥
तुरत कान ही कान तासु रिस की चहुं ओरी ।
पहुँचि जात ही खबरि सबन भय भरी बहोरी ॥
हो वुह किन्तु कृपालु, और जो कछुक निठुर मन ।
विद्या विषयक तासु प्रेम हो या कौ कारन ॥

सबरौ गाम बखानत हो वाकी विद्वानी ।
लिखिवे में सन्देह न, गिनिवे हू में ज्ञानी ॥
धरती लेतौ नापि, यहू देत हो बताई ।
परि हैं कब त्यौहार, कचहरी आदिक आई ॥
मानत हो तर्क में पादरी तिहि चतुराई ।
हारि जाय पै तहू तर्क करतौ ही जाई ॥
वाद माहिं जो बड़े शब्द विद्या के आवैं ।
सुनि अचरज युत लोग जुरे चितवत रहि जावैं ॥
पै बीत्यौ सब तासु नाम, अरु अब वा थानहि ।
जहं जीत्यौ बहु बार बार वुह, कोऊ न जानहि ॥

अटवि-अटन

१

झाड़ बन-खंड था
प्रखर मार्तंड था

विकट मरु वात-उत्पात उद्दंड था
भूमि के पृष्ठ या व्योम के अंक में
दृष्टि के पंथ-गत दूर पर्यंत पशु,
पक्षि या पुरुष का कहीं दर्शन न था।
पास ही किंतु एक सघन वन्यस्थली
थी कि जिसके समीपस्थ सुविशाल एक
सुघर तालाब, जल-शून्य कर्दम लिये,
अर्ध-सूखा पड़ा था जहाँ हाल ही
का खुदा, बहुत-सा बीच में कीर्ण, मो-
था रहा था जता शूकरों की वहाँ
विपुलता, स्वैरिता तथा आचरण की
चंडता ; तथा पशु-वृंद-निर्द्वंद्वता।
किंतु उस समय व्हाँ एक शूकर न था।

२

वायु संक्षुब्ध था,
मन मेरा स्तब्ध अति

प्रकृति के कुपित आक्रोड़ में नद्ध था—
विकट-गति-सनसना हटित-संगीत सं-

घटित-संमोह संपुटित, संरुद्ध था।
किंतु नहिं क्रुद्ध था, किंतु संबुद्ध था,
उसे इस ढंग से प्रकृति के संग मुठ-
भेड़ का कोई मौक़ा न पहले कभी
था पड़ा। अतः कुछ मुग्ध-सा था तथा
लुब्ध था। प्रकृति के प्रेम के पाश में
बद्ध था। मुझ वह जानता था सदा
नहीं ऐसा नजारा सुगमता सहित,
सब कहीं लभ्य था। अतः सुस्थित रहा।

३

समय अब सांध्य था
पवन में मांद्य था
उस विपिन-पीठिका का वदन सांद्र था
पच्छि-कुल, कलह में निरत, रव-रहित नभ-
मध्य में विहरने को नि-संकोच बहु
मुदित-से अतिव आने लगे थे विपिन-
ओर से। तथा कइ एक खरगोश और
स्यार और हिरन और लोमड़ी भी बड़ी
एक पड़ी नजर आकर खड़ी। देखकर
किंतु मुझको विकट-रूप बंदूक-
धारी, शिकारी-सदृश, वह वहाँ से बड़ी
हड़बड़ी से मुड़ी, उसी वन की तरफ
थी जहाँ से कढ़ी। मुझे कौतुक बढ़ा,
अतः मैं भी बढ़ा, उसी के पंथ को

पकड़, कार्तूस झट एक हलका चढ़ा।
दौड़ते-दौड़ते, लपकते, झपकते,
हिचकते, झिझकते चला अति दूर तक
घुसा यों ही गया गहन के बीच में
निपट निःक्षोभ, निर्भीक, जी कर कड़ा।

४

किंतु रुकना पड़ा,
वृत्त एक आ पड़ा—
दृष्टि मम धृष्ट आकाश ने ली उड़ा
सचलता सहित एक दृश्य से दी लड़ा—
बहुत-सी दौड़ और दपट के साथ एक
सुपट-संशोभि, मन-मुग्ध-कारी, नवल
निपट, अति ललित लावण्य-धारी, सुभग,
सुष्ठु सुललाम, लघु अनति, भारी अनति।
विषद शृंगार सौंदर्य-दर्शन-सुखद
व्योम वर-यान, कल किंकिणी की चटुल
मसृण ध्वनि से स्वनित, सपट कर विपल में
पवन-पथ से, तड़ित, चमक-सम उधर से
जिधर को लोमड़ी थी गई, निकली चट-
पट गया। अधिक भयभीत, आक्रोश-आर्त
युक्त, नभ-अटन-रत, पक्षियों का जथा
चट इधर-उधर को फट गया। तब मेरा
विस्मयावेग-पूरित हृदय अधिक तर
चकित, जागृत तथा कौतुकावृत हुआ।

५

और मैं अब उसी ओर को बढ़ चला
　　जिधर नभ-यान-आगमन से गगन-मग
चित में खचित मेरे हुआ था तदा।
　　विपिन की निविड़ द्रुम-वीथियों में पिहित,
पंथ के अंक में निहित, बहु कंटका-
　　कीर्ण नव-वल्लरी झड़ित-रव झल्लरी-
ध्वनित, गुंजा-लड़ी में अलंकृत तथा
　　कहीं मृदु मालती-मिलित विटपावली-
चलित गहन-स्थली में अटकता, सुबट
　　से भटकता महाकठिन-श्रम सहित बहु
कष्ट करता, बहुत देर में एक अति
　　सुष्ठु थल में जहाँ ताड़ और ताड़िका
आम्र तरु-मालिका, बकुल की डालिका
　　कदली-कल आलिका, माधवी मल्लिका,
स्वर्ग-शोभा-युता चारु चंपकलता,
　　खिलित बेला, चमेली, जुही, मोगरा
की मनोहर महक ने मिलित हो मुझे
　　परितोषित किया—प्राप्त, सुथकित, हुआ।

६

वहाँ अति निकट एक विवृत तालाब था,
　　विहग-कुल कर रहा स्वरित संलाप था।
बकुल-द्रुम-कुंज त्यों मृदुल मधु-गंध का
　　लालची मैं सदा से रहा हूँ अतिव,

अतः अति अधिक अन्वेषणा-युक्त हो
फिर चला—मिलें यदि बकुल तो वहाँ पर
सुचित हो कुञ्क-छन, सुरभि-मद-छकित मन,
श्रम-विगत, अन-थकित, मुदित बैठूँ ज़रा।

अहा, झट मिल गया मेल मन का बिना
अधिक आयास ही, क्योंकि अति पास ही
झुंड था नवल एक विमल थल में बड़ा
मुकुल-भारावनत मौलिश्री का खड़ा।

७

अहा ! पर वहाँ पर और एक गुल खिला
गुल खिला क्या भला, बल्कि व्हाँ भूमि पर
कमल-दल अवलि-मय, कुसुम-आकीर्ण, एक
दृष्टि आस्तीर्ण विस्तीर्ण सुन्दर पड़ा।

एक हीरक-जड़ा अंगुलीयक तथा
इत्र की अल्प शीशी-समन्वित, सुघर
बनी जापान की सुबुक संदूकड़ी,
तथा कंघी, तथा रेशमी क़ीमती

नया रूमाल, माला तथा मालती
मोगरे की, बकुल की, विकल रूप से
कोई टूटी, समूची, कोई जर्जरित,
कोई सौरभ-भरित किंतु शोभा-विगत,

बहुत बिखरी पड़ी थीं, तथा और भी
बात एक कथन के योग्य है—सिगरटें
अध-जली, मैच बहु अध-बली, बोतलों

की तथा शीशियों की नली एक दो
निपट टूटी हुई, एक सुराही निकट
डबल रोटी पड़ी थी बड़ी-सी गली।
स्वर्ण का बटन अम्मृतसरी ढंग का
कमल के बिस्तरे पर पड़ा एक मिला।
उसी के तले एक सुन्दरी की ललित
कैबिनट सैज की वत्त-फ़ोटो मिली।
पृष्ठ पर शबी के उसी नभ-यान का
चित्र सुस्पष्ट विधि से बना था हुआ,
जिसे लख मार्ग में चित्त मेरा चमत्-
कृत, चकित प्रथम ही हो चुका था बड़ा।

८

विशद वह मुद्रिका, बटन वह स्वर्ण का,
शबी वह छबि-भरी, अभी तक पास है।

* * *

सत्यनारायण कविरत्न

परिचय

जन्म सं० १६४१

मृत्यु सं० १६७५

कविरत्न जी के पिता अलीगढ़ के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। सन् १६१० में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा दी, किन्तु फ़ेल हो गये। कविता के प्रति इनको पहले ही से रुचि थी। बाद को यह कविता-प्रेम इतना बढ़ा कि इन्होंने 'साहित्य-सेवा' को ही अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य निश्चित कर लिया। पंडितजी तो श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त, साहित्य-रसिक और सीधे-सादे ग्रामीण थे किन्तु इनकी धर्मपत्नी आर्य्यसमाज की कट्टर अनुयायिनी और शुष्क विचार वाली थीं अतः इनमें कभी दाम्पत्य-प्रेम की झलक नहीं दिखाई दी। बेचारे पंडितजी कभी तो 'भयौ यह अनचाहत कौ संग' कहते हुए आह भरते थे, तो कभी 'बस, अब नहिं जाति सही' के स्वर में घंटों रोया करते थे। आप बड़े ही भावुक, सरल और शान्त प्रकृति के थे। इसमें संदेह नहीं, कि सत्यनारायणजी ब्रजभाषा के एक महाकवि थे। इनके हृदय में हिन्दी के उद्धार के लिए हमेशा ही दर्द बना रहता था। कृष्ण-प्रेम में आंखें झूमती रहती थीं। स्वदेश-भक्ति आपके हृदय में कूट-कूटकर भरी हुई थी। आपने राष्ट्रीय कविताएँ अत्यन्त भावपूर्ण, जोशीली और मधुर रची हैं। सत्यनारायणजी ने 'भ्रमर-दूत' की जिस ढंग से रचना की है, वह अनूठी और सद्यःप्रभावोत्पादिनी है। श्रीकृष्ण-भक्ति के साथ ही उसमें स्वदेश-प्रेम का जैसा कुछ मिश्रण हुआ है, उसे साहित्य-रसिक ही अनुभव कर सकते हैं, इनके "उत्तर-राम-चरित" और "मालती-माधव" नाटक के अनुवाद परम सरस और उत्कृष्ट हुए हैं। पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने इनकी फुटकर कविताओं का एक बड़ा ही सुन्दर संग्रह 'हृदय-तरंग' के नाम से प्रकाशित किया है।

भ्रमरदूत

कंस मारि भू-भार-उतारन, खल-दल मारन।
बिस्तारन विज्ञान विमल स्रुति-सेतु-सँवारन॥

जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चित-चोर।
भव-भय भंजन मोहना, नागर नंदकिसोर॥
गयौ जब द्वारका॥

बिलखाती, सनेह-पुलकाती, जसुमति माई।
स्यामा-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई॥

जिय प्रिय हरि दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसिदिना, निसरतु नैननु नीर॥
बिकल, कल ना हियेँ॥

पावन सावन मास नई उनई घन-पाँति।
मुनि-मन-भाई छाई, रसमई मंजुल कांति॥

सोहत सुंदर चहुँ सजल, सरिता पोखर ताल।
लोल-लोल तहँ अति अमल, दादुर बोल रसाल॥
छटा चूई परैं॥

अलबेली कहुँ बेलि, द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये-धोये पातन की अनुपम कमनाई॥

चातक चलि कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित, कुंजनु करत कलोल॥
निरखि घन की छटा॥

इन्द्र-धनुष अरु इन्द्रबधूटिन की सुचि सोभा।
को जग जन्म्यौ मनुज, जासु मन निरखि न लोभा॥
प्रिय पावन पावस लहरि, लहलहात चहुँ ओर।
छाई छबि छिति पै छहरि, ताकौं ओर न छोर॥
लसै मन मोहिनी॥

कहुँ बालिका-पुंज कुंज लखि परियत पावन।
सुख-सरसावन, सरल सुहावन, हिय-सरसावन॥
कोकिल-कंठ लजावनी, मनभावनी अपार।
भ्रातृ-प्रेम-सरसावनी, रागति मंजु मल्हार॥
हिंडोरनि झूलतीं॥

बाल वृन्द हरषत, उर दरसंत चहुँ चलि आवैं।
मधुर मधुर मुसकाइ रहस-बतियाँ बतरावैं॥
तरुवर डाल हलावहीं 'धौर' 'धूमरी' टेरि।
सुन्दर राग अलापहीं, भौंरा चकई फेरि॥
बिबिधि क्रीड़ा करैं॥

लखि यह सुखमा-जाल लाल निज बिन नंदरानी।
हरि-सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उरआति अकुलानी॥
[illegible]धि-बुधि तजि, माथौ पकरि, करि-करि सोच अपार।
[illegible]गजल मिस मानहुँ निकरि, बही बिरह की धार॥
कृष्ण-रटना लगी॥

कहति बिकल मन महरि कहाँ हरि ढूँढन जाऊँ।
कब गहि लालन ललकत मन गहि हृदय लगाऊँ॥
सीरी कब छाती करौं, कब सुत-दरसन पाऊँ।
कबै मोद निज मन भरौं, किहिँ कर धाइ पठाऊँ॥
सँदेसो स्याम पै॥

पढ़ी न अच्छर एक, ग्यान सपने ना पायौ।
दूध-दही चाटत में, सबरो जनम गमायौ॥
मात-पिता बैरी भये सिच्छा दई न मोहि।
सबरे दिन यौं ही गये, कहा कहे तें होहि॥
मनहिं मन में रही॥

सुनि गरग सों अनुसूया की पुन्य कहानी।
सीता सती पुनीता की सठि कथा पुरानी॥
बिसद ब्रह्म बिद्या-पगी मैत्रेयी तिय-रत्न।
सास्त्र पारगी, गारगी, मन्दालसा सयत्न॥
पढीँ सबकी सबै॥

निज-निज जनम धरन कौ फल उनने हीँ पायौ।
अविचल अभिमत सकल भाँति सुन्दर अपनायौ॥
उदाहरनि उज्जल दियौ, जग की तियनि अनूप।
पावन जस दस दिसि छयौं, उनको सुकृत सरूप॥
पाइ विद्या-बलै॥

नारी-सिच्छा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस-अवनति-प्रचंड-पातक-अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समुझि सब कोइ।
विद्याबल लहि मति परम, अबला सबला होइ॥
लखौ अजमाइकैं॥

कौनै भेजौं दूत, पूत सों बिथा सुनावै।
बातन में बहराइ, जाइ ताको यहँ लावै॥
त्यागि मधुपुरी सों गयो, छाँडि सबन कौ साथ।
सात समुन्दर पै भयौ, दूरि द्वारिकानाथ॥
जाइगो को वहाँ॥

नास होइ अक्रूर क्रूर तेरो बजमारे।
बातन में दै सैननि लै गयौ प्रान हमारे॥
क्यों न दिखावत लाइ कोउ, सूरति ललित ललाम।
कहँ मूरति रमनीय दोउ, स्याम और बलराम॥
रही अकुलाइ मैं॥

अति उदास, बिन आस सबै तन सुरति भुलानी।
पूत-प्रेम सों भरी परम, दरसन-ललचानी॥
बिलपति कलपति-अति जबै, लखि जननी निज स्याम।
भगत-भगत आये तबै, भाये मन अभिराम॥
भ्रमर के रूप में॥

ठिठक्यौ, अटक्यौ भ्रमर देखि जसुमति महरानी।
निज दुख सों अति दुखी ताहिँ मन में अनुमानी॥
तिहिँ दिसि चितवत चकित चित सजल जुगल भरि नैन।
हरि बियोग कातर स्रमित, आरत गदगद बैन॥
कहन तासों लगी॥

"तेरा तन घनस्याम, स्याम घनस्याम उतै सुनि।
तेरो गुंजन मुरलि मधुर, उत मधुर मुरलि धुनि॥
पीत रेख तव कटि बसति, उत पीताम्बर चारु।
बिपिनबिहारी दोउ लसत, एकरूप सिंगार॥
जुगुल रस के चखा॥

याही कारज निज प्यारे ढिग तोहिँ पठाऊँ।
कहियो वासों बिथा सबै जो अबै सुनाऊँ॥
जैयौ षटपद, धायकैं, करि निज कृपा बिसेस।
लैयो काम बनायकैं, दैयौ यह सन्देस॥
जल्दी लौटियौ॥

जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहुँ तें प्यारी।
सो तजि सबरो मोह साँवरे, तुम मन बिसारी॥

का तुम्हरी गति-मति भई, जो ऐसौ बरताव।
किधौं नीति बदली नई, ताको पर्‌यौ प्रभाव॥
कुटिल विष कौ भर्‌यौ॥

वुही कलिन्दी-कूल-कदम्बन के बन छाये।
बरन-बरन के लता-भवन मनहरन सुहाये॥

वुही कुन्द की कुंज ये, प्रेम प्रमोद-समाज।
पै मुकुन्द बिन बिषमये सारे सुखमा-साज॥
चित्त वाँहीं धर्‌यौ॥

लगत पलास उदास, सोक में असोक भारी।
बौरे बने रसाल, माधवी लता दुखारी॥

तजि-तजि निज प्रफुलितपनौ बिरह-बिथित अकुलात।
जड़ हूँ ह्वे चेतन मनौं, दीन मलीन लखात॥
एक माधौ बिना॥

नित नूतन तृन डार सघन बंशीबट छैयाँ।
फेरि-फेरि कर-कमल, चराईं जो हरि गैयाँ॥

ते तित सुधि अति हीं करत सब तन रहीं झुराय।
नयन स्रवत जल, नहिं चरत व्याकुल उदर अघाय॥
उठाये म्हौं फिरैं॥

बचन-हीन ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवति।
दरस-लालसा लगो चकित-चित इत उत चितवति॥

एक संग तिनकों तजत अलि कहियौ, "ऐ लाल।
क्यों न हीय निज तुम लजत जग कहाय गोपाल"॥
मोह ऐसौ तज्यौ॥

नील कमल-दल स्याम जासु तन सुन्दर सोहै।
नीलाम्बर बसनाभिराम बिद्युत मन मोहै॥
भ्रम में परि घनस्याम के, लखि घनस्याम अगार।
नाचि-नाचि ब्रजधाम के, कूकत मोर अपार॥
भरे आनन्द में॥

यहँ को नव नवनीत मिल्यौ मिसरी अति उत्तम।
भला सकै मिलि कहाँ सहर में सद याके सम॥
रहै यही लालो अजहुँ काढ़त यहिँ जब भोर।
भूखो रहत न होइ कहुँ, मेरो माखन चोर॥
बँध्यौ निज टेव कौ॥

वा बिनु गो ग्वालन को हित की बात सुझावै।
अरु स्वतन्त्रता, समता सहभ्रातृता सिखावै॥
जदपि सकल बिधि ये सहत, दारुन अत्याचार।
पै नहिं कछु मुख सों कहत, कोरे बने गँवार॥
कोउ अगुआ नहीं॥

भये संकुचित हृदय भीरु अब ऐसे भय में।
कोऊ कौ विस्वास न निज जातीय उदय में॥
लखियत कोउ रीति न भली नहिं पूरब-अनुराग।
अपनी-अपनी ढापुली, अपनो-अपनो राग॥
अलापैं जोर सौं॥

नहिं देसीय भेप-भावनु की आसा कोऊ।
लखियत जो ब्रजभाषा, जाति हिरानी सोऊ॥
आस्तिक बुधि-बंधन नसे, बिगरी सब मरजाद।
सब कोऊ के हिय बसे, न्यारे-न्यारे स्वाद॥
अनोखे ढंग के॥

बेलि नवेली अलबेली दोउ नम्र सुहावैं।
तिनके कोमल सरल भाव कौ सब जस गावैं॥
अबकी गोरी मदभरी अधर चलै इतराय।
चार दिना की छोहरी, गई ऐसी गरवाय॥
जहाँ देखौ तहाँ॥

गोरी कौं गोरा लागत जग अतिहीं प्यारे।
मो कारी कों कारे तुम नयननु के तारे॥
उनको तो संसार सब मो दुखिया कों कौन।
कहिए, कहा विचार है, जो तुम साधी मौन॥
बने अपस्वारथी॥

पहले को सो अब न तिहारो यह वृन्दाबन।
याके चारों ओर भये बहुबिधि परिवर्तन॥
बने खेत चौरस नये, काटि घने बनपुंज।
देखने कों बस रहि गये, निधुबन सेवाकुंज॥
कहाँ चरि हैं गऊ॥

पहली-सी नहीं जमुनाहू में अब गहराई।
जल कौ थल अरु थल कौ जल अब परत लखाई॥
कालीदह कौ ठौर जहँ चमकत उज्ज्वल रेत।
काछी माली करत तहँ, अपने-अपने खेत॥
घिरे झाऊनि सों॥

नित नव परत अकाल, काल कौ चलत चक्र चहुँ।
जीवन कौ आनन्द न देख्यौ जात यहाँ कहुँ॥
बढ्यौ यथेच्छाचार-कृत, जहँ देखौ तहँ राज।
होत जात दुर्बल बिकृत, दिन-दिन आर्य-समाज॥
दिनन के फेर सों॥

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें त्रिदेसी तंग करत दै बिपदा खासी॥
नहिं आये निरदय दई, आये गौरव जाय।
साँप छछूँदर-गति भई मन-ही-मन अकुलाय॥
रहे सब-के-सबै॥
टिमटिमाति जातीय जोति जो दीप सिखा-सी।
लगत बाहिरी ब्यारि बुझन चाहत अबला-सी॥
सेष न रह्यो सनेह कौ काहु हिय में लेस।
कासो कहिए गेह की, देसहि में परदेस॥
भयौ अब जानिए॥

गिरिजा-सिन्धुजा-संवाद

सिन्धु-सुता इक दिन सिधाई श्रीगिरिसुता दुवारे।
विघ्न-विदारण मातु कहाँ ? यह भाख्यो लागि किवारे॥
कष्ट निवारन मंगल-करनी जाके सब गुन गावैं।
मेरे द्वार पास तिहि कारण विघन रहन नहिं पावैं॥
कहाँ भिखारी गयो यहाँ ते, करै जो तुव प्रतिपालो ?।
होगो वहाँ जाय किन देखो, बलि पै पर्‌यो कसालो॥
गरल-अहारी कहाँ ? बताओ लेहुँ आप सों लेखो।
बार-बार का पूछति मोकों जाय पूतना देखो॥
बहुरि पियारी मोहि बताओ भुजन-नाह परवीनो।
देखहु जाय शेष-शय्या पर जहाँ शयन तिन कीनों॥
कहाँ पशुपति मोहिं दिखाओ ? गोकुल डगर पधारो।
शैलपती कहँ ? कर मैं धारैं गोवरधनहि निहारो॥
'सत्य नारायण' हँसि के कमला भीतर चरण पधारै।
अस आमोद-प्रमोद दोऊ को हमरे शोक निवारै॥

'जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

परिचय

जन्म सं० १९२३ मृत्यु सं० १९८

रत्नाकर जी के पिता बा० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल भी बं
काव्य-रसिक थे। रत्नाकर जी ने बी० ए० की उपाधि प्राप्त कर
के पश्चात् आवागढ़ राज्य में नौकरी की; फिर अयोध्या
राजा सर प्रतापनारायण सिंह के, और उनके मरने पर उनक
धर्मपत्नी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। इस पद पर रहकर उन्हों
अच्छी समृद्धि प्राप्त की थी। आपने सं० १९८७ में हिन्दी साहि
सम्मेलन के सभापति का आसन सुशोभित किया था।

'रत्नाकर' जी ने केवल ब्रजभाषा में कविता की है। उनक
कविता पुरानी पद्धति पर चलती हुई भी अत्यन्त सरस औ
ओजपूर्ण है। उनकी भाषा मँजी हुई, रोचक और मधुर है
वे अपने समय में ब्रजभाषा के सबसे बड़े कवि समझे जा
थे। उन्होंने 'गंगावतरण' 'हरिश्चन्द्र' 'उद्धव-शतक' 'समालोचना
दर्श' 'शृंगार-लहरी' 'गंगा-लहरी' 'विष्णु-लहरी' 'रत्नाष्टक
'वीराष्टक' आदि काव्यों के अतिरिक्त बहुत अधिक संख्या
फुटकर छन्दों की रचना की थी। रत्नाकरजी ने प्राचीन काव्य
का सम्पादन भी किया है। उनमें 'हित-तरङ्गिणी', 'हम्मीर-हठ
'कंठाभरण' और 'बिहारी-रत्नाकर' नाम से विख्यात बिहारी क
सतसई विशेष उल्लेख-योग्य हैं। बा० जगन्नाथदासजी की उपयु
सभी कविताओं का संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के द्वा
'रत्नाकर' नाम से बहुत सजधज के साथ निकला है। हमारी सम्म
में 'उद्धव-शतक' आपका सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

ब्रज-स्मृति

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह,
ऊधौं कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं,
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाय पुतरीनि सौं,
नैंकु कहि बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।

नन्द औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़-भरे लालन की लालच लगावती,
कहै 'रतनाकर' सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी,
मंजु मृग-नैनिनि के गुन-गन गावती;
जमुना-कछारनि की, रंग-रस-रारनि की,
बिपिन-बिहारन की हौंस हुमसावती,
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की,
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती।

रूप रस पीवत अघात ना हुते जो तब,
सोई अब आँस ह्वै उबरि गिरिबौ करैं,
कहै 'रतनाकर' जुड़ात हुते देखैं जिन्हैं,
याद किएँ तिनकौं अँवाँ सौं घिरिबौ करैं;

दिननि के फेर सौं भयौ है हेर-फेर ऐसौ,
जाकौं हेरि-फेरि हेरिबोई हिरिबौ करै,
फिरत हुते जू! जिन कुंजनि मैं आठौं जाम,
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करै।
पाँचौ तत्व माँहि एक सत्व ही की सत्ता सत्य,
याही तत्व-ज्ञान कौ महत्व स्रुति गायौ है;
तुम तौ बिबेक 'रतनाकर' कहौ क्यौं पुनि,
भेद पंच-भौतिक के रूप मैं रचायौ है:
गोपिन मैं, आप मैं, बियोग औ सँजोगहू मैं,
एकै भाव चाहिये सचोप ठहरायौ है,
आपु ही सौं आपु कौ मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है।

* * *

कृष्णोत्तर

हा! हा! इन्हैं रोकन कौ टोक न लगावौ तुम,
बिसद बिबेक-ज्ञान-गौरव-दुलारे है;
प्रेम 'रतनाकर' कहत इमि ऊधव सौं,
थहरि करेजौ थामि परम दुखारे है;
सीतल करत नैकु ही-तल हमारौ परि,
बिषय-बियोग-ताप-समन पुचारे है;

गोपिन कै नैन-नीर-ध्यान-नलिका ह्वै धाइ,
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे हैं।

प्रेम-नेम-निफल-निवारि उर-अन्तर तैं,
ब्रह्म-ज्ञान आनँद-निधान भरि लैहैं हम,
कहै 'रतनाकर' सुधाकर-मुखीनि-ध्यान,
आँसुनि सौं धोइ जोति जोइ-जरि लैहैं हम,
आवौ एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम;
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिनि सौं,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम।

बात चलैं जिनकी उड़ात धीर धूरि भयौ,
ऊधौ मन्त्र फूँकन चले हैं तिन्हैं ज्ञानी ह्वै,
कहै 'रतनाकर' गुपाल कैं हिये मैं उठी,
हूक मूक भायनि की अकह कहानी ह्वै;
गहबर कंठ ह्वै न कढ़न सँदेस पायौ,
नैन-मग तौलौं आनि बैन अगवानी ह्वै,
प्राकृत प्रभाव सौं पलट मनमानी पाइ,
पानी आज सकल सँवारयौ काज बानी ह्वै।

ऊधव कैं चलत गुपाल-उर माँहि चल,
आतुरी मची सो परै कहि न कबीनि सौं,
कहै 'रतनाकर' हियौ हूँ चलिबै कौं संग,
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं;

आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै,
स्वैद ह्वै रस्यौई परै रोम-झँझरीनि सौं;
आनन-दुवार तैं उसाँस ह्वै बढ्यौइ परै,
आँस ह्वै कढ्यौई परै नैन-खिरकीनि सौं।

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन कौ मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

प्रथम मुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं
न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं।
प्रेम-रतनाकर को तरल तरंग पारि
पलटि पराने पुनि प्रन पतवारी तैं॥
और न प्रकार अब पार लहिबै कौ कछू
अटकि रही हैं एक आस-गुनवारी तैं।
सोऊ तुम आइ बात बिषम चलाइ हाय
काटन चहत जोग-कठिन कुठारी तैं॥

* * *

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

परिचय

जन्म सं० १६२१ मृत्यु सं० १६६[illegible]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी को हिन्दी के साहित्यि[illegible] जगत् का आचार्य या पितामह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

द्विवेदी जी की निम्नलिखित सेवाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं इन सेवाओं के प्रताप ही से वे उक्त पद तक पहुँच सके। हरिश्च[illegible] मण्डली के समाप्त होते ही हिन्दी के अच्छे२ लेखकों का एक प्रका[illegible] से अभाव-सा हो गया। उस समय के शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजी बङ्गला या उर्दू फ़ारसी आदि भाषाओं में रचना किया करते थे।

ऐसी भयंकर परिस्थिति में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' सम्पादन की सेवा स्वीकार कर साहित्य-संसार को सम्पन्न क[illegible] दिया। उस समय वे उन दूसरी भाषाओं के रङ्ग में रंगे हुए शिक्षित व्यक्तियों को बलात् हिन्दी लिखने की ओर प्रवृत्त करते; उनके हिन्दी में लिखे लेखों को शुद्ध कर 'सरस्वती' में प्रकाशित करते। इस प्रकार उत्साहित कर आपने कई श्रेष्ठ साहित्यिक तय्यार किये।

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त सरीखे कवि आज जो हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं यह सब द्विवेदी जी के प्रसाद एवं प्रोत्साहन ही का प्रताप है।

द्विवेदीजी ने भाषा को शुद्ध कर उसे स्थिर रूप प्रदान किया। अंग्रेज़ी, बङ्गला, संस्कृत आदि भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों का हिन्दी में गद्य पद्य रूप में अनुवाद कर इसके साहित्य-भण्डार को बढ़ाया। समय-समय पर आवश्यक और उपयोगी सामयिक और सार्व[illegible] कालिक लेख लिखकर हिन्दी के पाठकों की वृद्धि की। इस प्रकार पूज्य द्विवेदी जी हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ठोस एवं चिरस्मरणीय कार्य कर गये।

विधि-विडम्बना

कटु इन्द्रायण में सुन्दर फल, मधुर ईख में एक नहीं।
बुद्धिमान्य की सीमा तूने दिखलाई है कहीं-कहीं ॥

निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश।
तो क्या कञ्चन में भी तुझको करना था न सुबास ?
विश्व बनाने वाला तुझको सब कोई बतलाते हैं।
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं ॥

यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशल लवलेश।
काक और पिक एक रङ्ग के क्यों होते लोकेश !
वायस बिहरैं हैं गलियों में हंस न पाये जाते हैं।
कण्टकारि सब कहीं, कमल-कुल कहीं-कहीं दिखलाते हैं ॥

मृगमद पाने का क्या कोई था ही नहीं सुपात्र,
जो तूने उससे पशुओं का किया सुगन्धित गात्र ?
नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं।
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लङ्क,
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशङ्क ?
दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है !
कुत्सित कर्म-कुशल कुटिलों को अत्तरज्ञ उपजाता है !
मूर्ख धनी विद्वज्जन निर्धन उलटा सभी प्रकार।
तेरी चतुराई को ब्रह्मा बार-बार धिक्कार !!

घोड़े जहां अनेक गधों का वहाँ काम क्या था सच कह !
विदित हो गई तेरी सारी चतुराई तू चुप ही रह ॥

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नए-नए अखबार॥
विधे, मनोज्ञ मातृभाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़।
रामनाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुख मोड़॥
एकानन हम, चतुरानन तू, अतः कहैं क्या और विशेष।
बुद्धिमान जन को इतना ही बतलाना बस है भुवनेश!

* * *

हे कविते

सुरम्यरूपे रस-राशि-रञ्जिते,
विचित्र वरणा भरणे कहां गई?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा,
कवीन्द्रकान्ते कविते अहो कहां?
कहां मनोहारि मनोज्ञता गई,
कहां छटा चीण हुई नई नई?
कहीं न तेरी कमनीयता रही,
बता तुही तू किस लोक को गई?
पता नहीं है भुवनान्तराल में,
कहां गई है तव रूप रम्यता।
सजीव होती यदि जीव लोक में,
कभी कहीं तो मिलती अवश्य ही।
सती हुई क्या कवि कालिदास के,
शरीर के साथ तभी अनाथ हो।

विलुप्त किंवा भवभूति संग ही,
हुई मही से अवलम्ब के बिना ॥
प्रयाण तूने तब जो नहीं किया,
बिराजती भूतल में रही कहीं ॥
अवश्य श्रीहर्ष-शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई गई गई ॥
हुआ पुनर्जन्म फिरंग देश में,
परन्तु सो भी कुछ काल के लिये ॥
पता वहाँ भी मिलता नहीं हमें,
बता कहा है अब तू मनोरमे ॥
नितान्त अन्धों पर भी कभी-कभी,
कृपावती होकर हे सुलक्षणे ॥
सदैव तू सन्मुख-संदिरस्थिता,
प्रकाशती है निज सर्वसम्पदा ॥
सनेत्रधारी यदि चाहती नहीं,
अनेत्रियों का न अभाव हिन्द में ॥
अतः उन्हींसे चुन एक आध को,
कृपाधिकारी अपना बना-बना ॥
कभी-कभी तू अब भी दयाघने,
दयालु होती इस दीन देश पै ॥
इसीलिये दोष तुझे न दे सकें,
अनेक दोषाकर हाय हैं हमीं ॥
अनन्त वर्षावधि तू यहां रही,
तथापि तेरा कुछ ज्ञान हो नहीं ॥

विचित्रता और विशेष क्या कहें,
कृतघ्नता का बस अन्त हो गया ॥
अभी हमें ज्ञात यही नहीं हुआ,
रही किमाकारक तू रसात्मिके ॥
स्वरूप ही का जब ज्ञान है नहीं,
विभूषणों की तब क्या कहें कथा ॥
अभी मिलेगा व्रज मण्डलान्त का,
अयुक्त भाषामय वस्त्र एक ही ॥
शरीर सङ्गी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ॥
सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे ॥
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही यही यही ॥
हुआ जिन्हें ज्ञात रहस्य है यह,
वही वशीभूत तुझे करेंगे ॥
विलम्ब से वा अविलम्ब से वा,
दया उन्हीं पै तव देवि होगी ॥
कुछ समय गये पै योग्यता जो दिखावे,
सदय-हृदय होके तू उसीके यहां आ ॥
न उचित अबला का नित्य स्वच्छन्दवास,
बस अधिक कहें क्या हे महामोद दात्रि ॥

* * *

नाथूराम शंकर शर्मा

परिचय

जन्म संवत् १९१६ मृत्यु संवत् १९८९

"शंकर" जी ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों ही में कविता की है। समय की प्रगति का आपकी कविता पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। समाज-सुधार की ही रचनाएँ इनकी कविता में प्रमुख स्थान रखती हैं। किंतु प्रायः नवीन कलेवर में इन्होंने प्राचीन काव्य आत्मा को ही रूपांतरित करके रक्खा है। भाषा में रौद्र और प्रांजल दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। घनाक्षरी छन्द का प्रवेश खड़ी बोली में इन्हीं के द्वारा हुआ है। शङ्करसरोज, अनुरागरत्न, गर्भरंडारहस्य, वायस-विजय आदि कई पुस्तकें इनकी प्रकाशित हुई हैं।

नैसर्गिक शिक्षा-निदर्शन

व्यापक हैं संसार में, विधि निषेध विख्यात।
शिक्षा मानव जाति को, मिलती है दिन रात॥

जिसकी सत्ता भाँति-भाँति के, भौतिक दृश्य दिखाती है।
जीवों को जीवन धारण के, नाना नियम सिखाती है॥

सर्व नियन्ता, सर्व हितैषी, वह चेतन भुवनेश।
नैसर्गिक विधि से देता है, हम सब को उपदेश॥

न्यायशील शंकर जीवों से, कहिये क्या कुछ लेता है।
सुखदा सामग्री का सब को, दान दया कर देता है॥

सर्व सृष्टि-रचना को देखो, नयन सुमति के खोल।
ठौर-ठौर शिक्षा मिलती है, गुरु-मुख से बिन मोल॥

देखो भानु अखण्ड प्रतापी, तम को मार भगाता है।
तेजहीन तारा-मण्डल में, उज्ज्वल ज्योति जगाता है॥

ज्ञान उजाला बाँट रहा है, यों प्रभु परम सुजान।
तत्व तेजधारी बनते हैं, भ्रम-तम त्याग अजान॥

तारे भा ।म-तोम रात में, दिव्य दृश्य दरसाते हैं।
चन्द्र बिम्ब की भाँति उजाला, बाँट सुधा बरसाते हैं॥

यों अपने ज्ञानी पुरुषों से, पढ़ कर मंत्र प्रयोग।
छोड़ अविद्या सुख पाते हैं, गुरु-मुख लौकिक लोग॥

जो शिव से स्वाभाविक शिक्षा, जातिक्रमागत पाते हैं।
सुलभ साधनों से वे प्राणी, जीवन-काल बिताते हैं॥

मानव जाति नहीं जीती है, उन सब के अनुसार।
साधन पाया हम लोगों ने, केवल विमल विचार॥

जो योगी जिस ज्ञेय वस्तु में, पूरी लगन लगाता है
मर्म जान लेता है उस का, मनमाना फल पाता है
वह अपने आविष्कारों का, कर सब को उपदेश
ठीक-ठीक समझा देता है, फिर-फिर देश-विदेश
जो बड़भागी ब्रह्मज्ञान के, जितने टुकड़े पाते हैं
वे सब साधारण लोगों को, देकर बोध बढ़ाते हैं
तर्क-सिद्ध सद्भाव अनूठे, विधि-निषेधमय मंत्र
संग्रह ग्रन्थाकार उन्हीं के, प्रकटे प्रचलित तंत्र।
लेख अनोखे, भाव अनूठे, अक्षर, शब्द, निराले हैं
दुर्गम गूढ़ ब्रह्मविद्या के, बिरले पढ़ने वाले हैं
ज्ञानागार बने भरते हैं, विषय बटोर बटोर
पाठकवृन्द नहीं पावेंगे, इति कर इस का छोर।
तर्क युक्तियों की पटुता से, जब जड़ता को खोते हैं
सत्यशील वैदिक विद्या के, तब अधिकारी होते हैं।
बाल ब्रह्मचारी पढ़ते हैं, सोच, समझ, सुन देख।
पाठ-प्रणाली जाँच लीजिये, पढ़ कतिपय उल्लेख।
जन्म-काल में जिस के द्वारा, जननी का पय पीते थे
साथ वही साधन लाये थे, इतर गुणों से रीते थे।
ज्ञान-योग से गुरु लोगों के, उमगे विशद विचार।
कर्मयोगबल से पाते हैं, तप-तरु के फल चार।
जाँच लीजिये जितने प्राणी, जो कुछ बोला करते हैं।
वे उस भाँति मनोभावों की, खिड़की खोला करते हैं।
स्वाभाविक भाषा का हम को, मिला न प्रचुर प्रसाद।
शब्द पराये बोल रहे हैं, कर वर्णिक अनुवाद।

अपने कानों में ध्वनि रूपी, जितने शब्द समाते हैं।
मुख से उन्हें निकालें तो वे, वर्ण रूप बन जाते हैं॥

वे ही अक्षर कहलाते हैं, स्वर व्यञ्जन समुदाय।
यों आकाश बना भाषण का, कारण सहित उपाय॥

जिनके स्वाभाविक शब्दों को, पास दूर सुन पाते हैं।
वे अनुभूत हमारे सारे, अर्थ समझ में आते हैं॥

यों शिव से भाषा रचने का, सुनकर उक्त उपाय।
कल्पित शब्द साथ अर्थों के, समुचित लिये मिलाय॥

भूतों के गुण और भूत यों, दशक दशों का जाना है।
इन में नौ प्रत्यक्ष शेष को, अटकल ही से माना है॥

तारतम्यता देख इन्हीं की, उपजा गणित-विवेक।
आँक लिये नौ अङ्क असङ्गी, शून्य सकल घर एक॥

आतप-ताप स्नेह रसों को, मेघ रूप कर देता है।
सार सुगन्ध सब द्रव्यों के, मारुत में भर देता है॥

होते हैं जल-वायु शुद्ध यों, बल वर्द्धक अनुकूल।
भानुदेव से सीखा हमने, हवन-कर्म सुखमूल॥

देखो वैदिक यज्ञकुण्ड में, हव्य-कवलिका पाता है।
न्याय-धर्म से सब देवों को, सार भाग पहुँचाता है॥

भस्म छोड़ कर हो जाता है, हुतभुक् अन्तरधान।
दान करें यों विद्या-धन का, बुध याजक यजमान॥

नीर मेघ से, मेघ भाप से, भाप नीर बन जाता है।
पिघले, जमे, उड़े यों पानी, कौतुक तीन दिखाता है॥

ये रस, अन्न, प्राण दाता के, द्रव, दृढ़, वायु, विकार।
देखो, देवो, ऋषियो, पितरो, करिये जगदुपकार॥

औषध, अन्न आदि सामग्री, सुखदा सब को देती है
अपने उपजाऊ बीजों को, सावधान रख लेती है
जीव जन्म लेते मरते हैं, जिस पर जीवन भोग
उस वसुन्धरा माता की-सी, सुगति गहो गुरु लोग

देखो फल स्वादिष्ट रसीले, अपने-आप न खाते हैं
बाँट-बाँट सर्वस्व सबों को, अचल प्रतिष्ठा पाते हैं
छाया-दान दिया करते हैं, प्रखर ताप शिर धार
सीखो, पादप सिखलाते हैं, करना परउपकार

तीन भाँति के जंगम प्राणी, जो कुछ रुचि से खाते हैं
भिन्न भाव से भेद उसी के, अन्न अनेक कहाते हैं
वे अभक्ष्य हैं जान लिये जो, गत रस स्वाद सुवास
परखाता है ईश सबों को, वदन, घ्राण, रच पास

आमिष-भक्षी क्रूर, तामसी, निष्ठुर, हिंसक होते हैं
कन्द, मूल, फल खाने वाले, उग्र विलास न बोते हैं
पल, फल खौत्रों को पाते हैं, उभयाचरण विशिष्ट
ऐसा देख निरामिषभोजी, सदय बनो सब शिष्ट

* * *

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

परिचय

जन्म सं० १६२२ मृत्यु सं० २०

'हरिऔध' जी हमारे साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ वयो
महाकवि थे। लगभग आधी शताब्दी से आप हिन्दी की स
सेवा करते आ रहे थे। कई वर्षों तक आप हिन्दू विश्वविद्या
काशी में अध्यापन करने के पश्चात् अपने स्थान आजम
में विश्रान्ति का जीवन व्यतीत कर रहे थे। अपनी रचनाओं
द्वारा उपाध्याय जी ने यह दिखला दिया कि संस्कृत-गर्भित
ठेठ दोनों प्रकार की हिन्दी शैली पर उनका समान अधिकार

'हरिऔध' जी का मुख्य कार्य-क्षेत्र खड़ी-बोली-काव्य
ही रहा था। आपने 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य की रचना खड़ी बो
में उस समय की जिस समय उसमें कोई भी महाकाव्य न थ
कहना न होगा कि उपाध्यायजी के इस ग्रन्थ ने हिन्दी वालों
मार्ग प्रदर्शित किया और खड़ी बोली की कविता को एक
और आगे बढ़ा दिया। आपका ब्रजभाषा की रचनाओं का
उत्कृष्ट ग्रन्थ 'रस-कलश' नाम से निकला है। इसके विषय
नायिका-भेद आदि हैं।

'हरिऔध' जी ने उर्दू छन्दों तथा ठेठ हिंदी में भी रच
की है। इधर उनकी लेखनी से हमें 'बोलचाल' 'चोखे-चौपदे'
'चुभते चौपदे' जैसे ग्रंथ मिले हैं, जिनके हरएक पद में कोई-न-क
मुहावरा अवश्य है। उपाध्यायजी का सबसे नया सफल सत्का
ग्रंथ 'वैदेही-वनवास' है। आप बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान, साहि
काव्य-शास्त्रादि के पूर्ण पंडित, प्रशस्त लेखक, उच्चकोटि के आ
चक भी थे और हि० सा० सम्मेलन के सभापति रह चुके
आपके 'प्रियप्रवास' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका

वैदेही वनवास

प्रवहमान प्रातः - समीर था।
उसकी गति में थी मंथरता॥
रजनी - मणिमाला थी टूटी।
पर प्राची थी प्रभा - विरहिता॥ १॥

छोटे-छोटे घन के टुकड़े।
घूम रहे थे नभ - मण्डल में॥
मलिना-छाया पतित हुई थी।
प्रायः जल के अन्तस्तल में॥ २॥

कुछ कालोपरान्त कुछ लाली।
काले घन - खंडों ने पाई॥
खड़ी ओट में उनकी ऊषा।
अलस भाव से भरी दिखाई॥ ३॥

अरुण - अरुणिमा देख रही थी।
पर था कुछ परदा-सा डाला॥
छिक-छिक करके भी क्षिति-तल पर।
फैल रहा था अब उँजियाला॥ ४॥

दिन-मणि निकले तेजोहत-से।
रुक-रुक करके किरणें फूटीं॥
छूट किसी अवरोधक - कर से।
छिटिक-छिटिक धरती पर टूटीं॥ ५॥

राज - भवन हो गया कलरवित ।
बजने लगा वाद्य तोरण पर ॥
दिव्य - मन्दिरों को कर मुखरित ।
दूर सुन पड़ा वेद - ध्वनि स्वर ॥ ६ ॥

इसी समय मंथर गति से चल ।
पहुँची जनकात्मजा वहाँ पर ॥
कौशल्या देवी बैठी थीं ।
बनी त्रिकलता - मूर्ति जहाँ पर ॥

पग - वन्दन कर जनक - नन्दिनी ।
उनके पास बैठ कर बोलीं ॥
धीरज धर कर विनत - भाव से ।
प्रिय - उक्तियाँ थैलियाँ खोलीं ॥ ८ ॥

कर मंगल - कामना प्रसव की ।
जनन - क्रिया की सदिच्छा से ॥
सकल - लोक उपकार - परायण ।
पुत्र - प्राप्ति की आकांक्षा से ॥

हैं पतिदेव भेजते मुझको ।
वाल्मीक के पुण्याश्रम में ॥
दीपक वहाँ बलेगा ऐसा ।
जो आलोक करेगा तन में ॥ १० ॥

आज्ञा लेने मैं आई हूँ ।
और यह निवेदन है मेरा ॥
यह दें आशीर्वाद सदा ही ।
रहे सामने दिव्य सबेरा ॥

दुख है अब मैं कर न सकूँगी।
कुछ दिन पद-पंकज की सेवा॥
आह प्रति-दिवस मिल न सकेगा।
अब दर्शन मंजुल-तम-मेवा॥१२॥

माता की ममता है मानी।
किस मुँह से क्या सकती हूँ कह॥
पर मेरा मन नहीं मानता।
मेरी विनय इसलिये है यह॥१३॥

मैं प्रति-दिन अपने हाथों से।
सारे व्यंजन रही बनाती॥
पास बैठ कर पंखा झल-झल।
प्यार सहित थी उन्हें खिलाती॥१४॥

प्रिय-तम सुख-साधन-आराधन—
मैं थी सारा दिवस बिताती॥
उनके पुलके रही पुलकती।
उनके कुम्हलाये कुम्हलाती॥१५॥

हैं गुणवती दासियाँ कितनी।
हैं पाचक पाचिका नहीं कम॥
पर है किसी में नहीं मिलता।
जितना वांछनीय है संयम॥१६॥

जरा-जर्जरित स्वयं आप हैं।
है क्षन्तव्य धृष्टता मेरी॥
इतना कह कर जननि आपकी।
केवल दृष्टि इधर है फेरी॥१७॥

कहा श्रीमती कौशल्या ने।
मुझे ज्ञात हैं सारी बातें॥
मंगलमय हो पंथ तुम्हारा।
बनें दिव्य-दिन रंजित-रातें॥१८॥

पुण्य-कार्य है गुरु-निदेश है।
है यह प्रथा प्रशंसनीय-तम॥
कभी न अविहित-कर्म करेगा।
रघुकुल-पुङ्गव प्रथित-नृपोत्तम॥१६॥

आश्रम-वास-काल होता है।
कुलपति द्वारा ही अवधारित॥
बरसों का यह काल हुए, क्यों ?
मेरे दिन होंगे अतिवाहित॥२०॥

मंगल-मूलक महत्कार्य है।
है विभूतिमय यह शुभ यात्रा॥
पूरित इसके अवयव में है।
प्रफुल्लता की पूरी मात्रा॥२१॥

किन्तु नहीं रोके रुकता है।
आँसू आँखों में है आता॥
समझाती हूँ पर मेरा मन।
मेरी बात नहीं सुन पाता॥२२॥

तुम्हीं राज-भवनों की श्री हो।
तुमसे वे हैं शोभा पाते॥
तुम्हें लाभ करके विकसित हो।
वे हैं हँसते से दिखलाते॥२३॥

मंगल-मय हो, पर न किसी को ।
यात्रा-समाचार भाता है ॥
ऐसी कौन आँख है जिसमें ।
तुरत नहीं आँसू आता है ॥२४॥

गृह में आज यही चर्चा है ।
जावेंगी तो कब आवेंगी ॥
कौन सुदिन वह होगा जिस दिन ।
कृपा-वारि आ बरसावेंगी ॥२५॥

हो अनाथ-जन की अवलम्बन ।
हृदय बड़ा कोमल पाया है ॥
भरी सरलता है रग-रग में ।
पूत-सुरसरी-सी काया है ॥२६॥

जब देखा तब हँसते देखा ।
क्रोध नहीं तुमको आता है ॥
कटु बातें कब मुख से निकलीं ।
वचन सुधा-रस बरसाता है ॥२७॥

जैसी तुम में पुत्री वैसी ।
किस जी में ममता जगती है ॥
और को कलपता अवलोके ।
कौन यों कलपने लगती है ॥२८॥

बिना बुलाये मेरा दुख सुन ।
कौन दौड़ती आ जाती थी ॥
पास बैठकर कितनी रातें ।
जगकर कौन बिता जाती थी ॥२९॥

मेरा क्या दासी का दुख भी।
तुम देखने नहीं पाती थीं ॥
भगिनी के समान ही उसकी।
सेवा में भी लग जाती थीं ॥३०॥

विदा माँगते समय की कही।
विनयमयी तव बातें कहकर ॥
रोईं बार-बार कैकेयी।
बनीं सुमित्रा आँखें निर्भर ॥३१॥

उनकी आकुलता अवलोके।
कल्ह रात भर नींद न आई ॥
रह-रह घबराती हूँ, जी में-
आज भी उदासी है छाई ॥३२॥

तुम जितनी हो, कैकेयी को।
है न माण्डवी उतनी प्यारी ॥
वधुओं वलित सुमित्रा में भी।
देखी ममता अधिक तुम्हारी ॥३३॥

फिर जिसकी आँखों की पुतली।
लकुटी जिस वृद्धा के कर की ॥
छिनेगी न कैसे वह कलपे।
छाया रही न जिसके सिर की ॥३४॥

जिसकी हृदय-वल्लभा तुम हो।
जो तुमको पलकों पर रखता ॥
प्रीति-कसौटी पर कस जो है।
पावन - प्रेम - सुवर्ण परखता ॥३५॥

जिसका पत्नी-व्रत प्रसिद्ध है ।
जो है पावन-चरित कहाता ॥
देख तुम्हारा अरविन्दानन ।
जो है विकच-वदन दिखलाता ॥३६॥

जिसकी सुख-सर्वस्व तुम्हीं हो ।
जिसकी हो आनन्द-विधाता ॥
जिसकी तुम हो शक्ति-स्वरूपा ।
जो तुम से पौरुष है पाता ॥३७॥

जिसकी सिद्धि-दायिनी तुम हो ।
तुम सच्ची गृहिणी हो जिसकी ॥
सब तन मन धन अर्पण कर भी ।
अब तक बनी ऋणी हो जिसकी ॥३८॥

अरुचिर कुटिल-नीति से ऊबे ।
जिसको तुम पुलकित करती हो ॥
जिसके विचलित-चिन्तित चित में ।
चारु-चित्तता तुम भरती हो ॥३९॥

कैसे काल कटेगा उसका ।
उसको क्यों न वेदना होगी ॥
होते हृदय मनुज-तन-धर वह ।
बन पायेगा क्यों न वियोगी ॥४०॥

रघुनन्दन है धीर-धुरंधर ।
धर्म प्राण है भव-हित-रत है ॥
लोकाराधन में है तत्पर ।
सत्य-संध है सत्य-व्रत है ॥४१॥

नीति-निपुण है न्याय-निरत है।
परम उदार महान् हृदय है ॥
पर उसको भी गूढ़ समस्या।
विचलित करती यथा समय है ॥४२॥

ऐसे अवसर पर सहायता।
सच्ची वह तुमसे पाता था ॥
मंद - मंद बहते मारुत से।
घिरा घन-पटल टल जाता था ॥४३॥

है विपत्ति-निधि-पोत-स्वरूपा।
सहकारिणी सिद्धियों की है ॥
है पत्नी केवल न गेहिनी।
सहधर्मिणी मंत्रिणी भी है ॥४४॥

खान - पान सेवा की बातें।
कह तुमने है मुझे रुलाया ॥
अपनी व्यथा कहूँ मैं कैसे।
आह कलेजा मुँह को आया ॥४५॥

जिस दिन सुत ने आ प्रफुल्ल हो।
आश्रम-वास-प्रसंग सुनाया ॥
उस दिन उस प्रफुल्लता में भी।
मुझको मिली व्यथा की छाया ॥४६॥

मिले चतुर्दश वत्सर का वन।
राज्य - श्री की हुए विमुखता ॥
कान्ति-विहीन न जो हो पाया।
दूर हुई जिसकी न विकचता ॥४७॥

क्यों वह मुख जैसा कि चाहिये।
वैसा नहीं प्रफुल्ल दिखाता ॥
तेजवन्त रवि के सम्मुख क्यों।
है रज-पुंज कभी आ जाता ॥४८॥

आत्म-त्याग का बल है सुत को।
उसकी सहन-शक्ति है न्यारी ॥
वह परार्थ-अर्पित-जीवन है।
है रघुकुल-मुख-उज्ज्वलकारी ॥४६॥

है मम-कातरोक्ति स्वाभाविक।
व्यथित हृदय का आश्वासन है ॥
शिरोधार्य्य गुरु-देवाज्ञा है।
मांगलिक सुअन-अनुशासन है ॥५०॥

जाओ पुत्री परम-पूज्य पति-पथ पहचानो।
जाओ अनुपम-कीर्त्ति वितान जगत में तानो ॥
जाओ रह पुण्याश्रम में वांछित फल पाओ।
पुत्र-रत्न कर प्रसव वंश को वंद्य बनाओ ॥५१॥

जाओ मुनि-पुङ्गव-प्रभाव की प्रभा बढ़ाओ।
जाओ परम-पुनीत-प्रथा की ध्वजा उड़ाओ ॥
जाओ आकर यथा-शीघ्र उर-तिमिर भगाओ।
निज-विधु-वदन समेत लाल-विधु-वदन दिखाओ ॥५२॥

इतना कह कर मौन हुईं कौशल्या माता।
किन्तु युगल-नयनों से उनके था जल जाता ॥
विविध-सान्त्वना-वचन कहे प्रकृतिस्थ हुईं जब।
पग-वन्दन कर जनक-नन्दिनी विदा हुईं तब ॥५३॥

जब घर आईं तब देखा।
बहनें आकर हैं बैठीं ॥
हैं खिन्न-मना दुख-मग्ना।
उद्वेगांबुधि में पैठीं ॥५४॥

देखते माण्डवी बोली।
क्या सुनती हूँ मैं जीजी ॥
वह निठुर बनेगी कैसे।
जो रही सदैव पसीजी ॥५५॥

तुम कहाँ चली जाती हो।
क्यों किसी को न बतलाया ॥
इतनी कठोरता करके।
क्यों सब को बहुत रुलाया ॥५६॥

हम सब भी साथ चलेंगी।
सेवाएं सभी करेंगी ॥
पर घर पर बैठी रहकर।
नित आहें नहीं भरेंगी ॥५७॥

वाल्मीकाश्रम में जाकर।
कब तक तुम वहाँ रहोगी ॥
यह ज्ञात नहीं तुमको भी।
कुछ कैसे भला कहोगी ॥५८॥

दस पाँच बरस तक तुमको।
जो रहना पड़ जायेगा ॥
'विच्छेद' बलायें कितनी।
हम लोगों पर लायेगा ॥५९॥

कर अनुगामिता तुमारी ।
सुखमय है सदन हमारा ॥
कलुषित-उर में भी बहती-
रहती है सुर-सरि - धारा ॥६०॥

जो उलझन सम्मुख आई ।
उसको तुमने सुलझाया ॥
जो ग्रंथि न खुलती, उसको-
तुमने ही खोल दिखाया ॥६१॥

अवलोक तुमारा आनन ।
है शान्ति चित्त में होती ॥
हृदयों में बीज सुरुचि का ।
है सूक्ति तुमारी बोती ॥६२॥

स्वाभाविक स्नेह तुमारा ।
भव-जीव-मात्र है पाता ॥
कर भला तुमारा मानस ।
है विकच-कुसुम बन जाता ॥६३॥

प्रति दिवस तुमारा दर्शन ।
देवता-सदृश थीं करती ॥
अवलोक दिव्य-मुख-आभा ।
निज हृदय-तिमिर थीं हरतीं ॥६४॥

अब रहेगा न यह अवसर ।
सुविधा दूरीकृत होगी ॥
विनता बहनों की विनती ।
आशा है स्वीकृत होगी ॥६५॥

माण्डवी का कथन सुनकर।
मुख पर विलोक दुख-छाया॥
बोलीं विदेहजा धीरे।
नयनों में जल था आया॥६६॥

जर्जरित गात अति वृद्धा।
हैं तीन-तीन माताएँ॥
हैं जिन्हें घेरती रहतीं।
आ आ कर दुश्चिन्तायें॥६७॥

है सुख-मय रात न होती।
दिन में है चैन न आता॥
दुर्बलता - जनित - उपद्रव।
प्रायः है जिन्हें सताता॥६८॥

मेरी यात्रा से अतिशय।
आकुल वे हैं दिखलातीं॥
हैं कभी कराहा करतीं।
हैं आँसू कभी बहातीं॥६९॥

बहनों उनकी सेवा तज।
क्या उचित कहीं है जाना॥
तुम लोग स्वयं यह समझो।
है धर्म उन्हें कलपाना?॥७०॥

है मुख्य-धर्म पत्नी का।
पति-पद-पंकज की अर्चा॥
जो स्वयं पति-रता होवे।
क्या उससे इसकी चर्चा॥७१॥

पर एक बात कहती हूँ ।
उसके मर्मों को छू लो ॥
निज प्रीति-प्रपंचों में पड़ ।
पति-पद सेवा मत भूलो ॥७२॥

अन्य स्त्री 'जा' न सकी यह ।
है पूत - प्रथा बतलाती ॥
नृप - गर्भवती - पत्नी ही ।
ऋषि-आश्रम में है जाती ॥७३॥

अतएव सुनो प्रिय बहनो ।
क्यों मेरे साथ चलोगी ॥
कर अपने कर्तव्यों को ।
कल-कीर्त्ति लोक में लोगी ॥७४॥

है मृदु तुम लोगों का उर ।
है उसमें प्यार छलकता ॥
मुझ से लालित-पालित हो ।
है मेरी ओर ललकता ॥७५॥

जैसा ही मेरा हित है ।
तुम लोगों को अति प्यारा ॥
वैसी ही मेरे उर में ।
बहती है हित की धारा ॥७६॥

तुम लोगों का पावन-तम ।
अनुराग - राग अवलोके ॥
है हृदय हमारा गलता ।
आँसू रुक पाया रोके ॥७७॥

क्यों तुम लोगों को बहनो।
मैं रो रो अधिक रुलाऊँ॥
क्यों आहें भर-भर करके।
पत्थर को भी पिघलाऊँ॥७८॥

इस जल-प्रवाह को हमको।
तुम लोगों को संयत रह॥
सद्‌बुद्धि बाँध के द्वारा।
रोकना पड़ेगा सब सह॥७९॥

दस पाँच बरस आश्रम में।
मैं रहूँ या रहूँ कुछ दिन॥
तुम लोग क्या करोगी इन।
आश्रम के दिवसों को गिन।८०॥

जैसी कि परिस्थिति होगी।
वह नहीं टलेगी टाले॥
भोगना पड़ेगा उसको।
क्या होगा कंधा डाले॥८१॥

मांडवी कहो क्या तुमने।
यौवन-सुख को कर स्वाहा॥
पति-ब्रह्मचर्य्य को चौदह-
सालों तक नहीं निबाहा॥८२॥

इस खिन्न उर्मिला ने है।
जो सहन-शक्ति दिखलाई॥
जिसकी सुध आते, मेरा-
दिल हिला आँख भर आई॥८३॥

क्या वह हम लोगों को है।
धृति - महिमा नहीं बताती॥
क्या सत्प्रवृत्ति की शिक्षा।
है सभी को न दे जाती॥८४॥

आँसू आयेंगे आवें।
पर सींच सुकृत - तरु - जावें॥
तो उनमें पर-हित द्युति हो।
जो बूँद बने दिखलावें॥८५॥

श्रुतिकीर्त्ति मांडवी जैसी।
महनीय - कीर्त्ति तू भी हो॥
मत विचल समझ मधुमारुत।
चल रही अगर लू भी हो॥८६॥

उर्मिला सदृश तुझ में भी।
वसुधावलम्बिनी धृति हो॥
जिससे भव-हित हो ऐसी।
तीनों बहनों की कृति हो॥८७॥

मत रोना भूल न जाना।
कुल - मंगल सदा मनाना॥
कर पूत - साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना॥८८॥

इसी समय आये वहाँ; धीर-वीर रघुवीर।
बहनें विदा हुईं बरसा नयनों से बहु-नीर॥८९॥

* * *

प्रतीक्षा

धीरे-धीरे दिन गत हुआ पद्मिनीनाथ डूबे,
आई दोषा फिर गत हुई दूसरा बार आया
यों ही बीतीं विपुल-घटिका औ कई बार बीते,
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आये

ज्यों-ज्यों होते दिवस गत थे क्लेश था वृद्धि पाता,
उत्कण्ठा थी अधिक बढ़ती व्यग्रता थी सताती
होती आके उदय उर में घोर उद्विग्नता थी,
देखे जाते सकल ब्रज के लोग उद्भ्रान्त-से थे

खाते-पीते गमन करते बैठते और सोते,
आते-जाते विपिन भ्रमते गोधनों को चराते
देते लेते सकल ब्रज की मेदनीवासियों के,
जी में होता उदय यह था क्यों नहीं श्याम आये

दो प्राणी भी ब्रज-अवनि के साथ जो बैठते थे,
तो आने की न मधुवन से बात ही थे चलाते
पूछा जाता प्रतिथल मिथः व्यग्रता से यही था,
दोनों प्यारे कुंवर अब लों लौट के क्यों न आये

अवासों में सुपरिसर में द्वार में बैठकों में,
बाजारों में विपणि सब में मन्दिरों में मठों में
आने की न ब्रजधन के बात फैली हुई थी,
कुंजों में औ सकल पथ में बाग में औ बनों में

आना प्यारे महरसुत का देखने के लिये ही,
कोसों जाती प्रतिदिन चली ग्वाल की मंडली थी।
ऊँचे-ऊँचे तरु पर चढ़े गोप छोटे अनेकों,
घण्टों बैठे तृषित दृग से पंथ को देखते थे॥

आके बैठी निज सदन की मुक्त ऊँची छतों में,
मोखों में औ पथदिशि बने दिव्य वातायनों में।
नाना भावों विवश विकला उन्मना नारियों की,
दो ही आँखें सहस बन के देखती पंथ को थीं॥

आके कागा यदि सदन में बैठता था कहीं भी,
तो तन्वंगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती।
जो आते हों कुँवर उड़ के काक तो बैठ जा तू,
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ भात दूंगी॥

कोई आता नगर मथुरा ओर से जो दिखाता,
नाना बातें सदुख उससे पूछते तो सभी थे।
यों ही जाता पथिक मथुरा ओर भी जो जनाता,
तो लाखों ही सकल उससे भेजते थे सँदेसे॥

पत्ते-पत्ते सकल तरु से औ लता बेलियों से,
कोने-कोने व्रज सदन से पंथ की रेणुओं से।
होती-सी थी यह ध्वनि सदा कुञ्ज से काननों से,
लोने-लोने कुँवर अब लौं क्यों नहीं सद्म आये॥

यदि दिन कट जाता बीतती थी न दोषा,
यदि निशि टलती थी वार था कल्प होता।
पल-पल अकुलाती ऊबती थीं यशोदा,
रट यह रहती थी क्यों नहीं श्याम आये॥

नित वह कितनों को पंथ में भेजती थी,
निज प्रिय सुत आना देखने के लिये ही।
नियत यह जताने के लिये थे अनेकों,
सकुशल गृह दोनों लाड़िले आ रहे हैं॥
प्रति दिन वह आके द्वार में बैठती थीं,
पथदिशि लखते ही बार को थीं बिताती।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूछती थीं,
प्रिय सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया॥
अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को,
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को व्यञ्जनों को।
पथश्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को,
वह नित रखती थीं भाजनों में सजा के॥
जब कुँवर न आते बार भी बीत जाता,
तब वह दुख पाके बाँट देती उन्हें थीं।
दिन-दिन उर में थी वृद्धि पाती अनाशा,
तम निविड़ दृगों के सामने हो रहा था॥
यदि पुरतिय आके पूछती थीं सँदेसा,
वह मुख उनका थीं देखती उन्मना हो।
वह कुछ कहना भी जो कभी चाहती थीं,
नहिं कह सकती थीं कंठ था रुद्ध होता॥
यदि कुछ समझातीं गेह की सेविकायें,
वह तनक उसे थीं ध्यान में भी न लातीं।
तन सुधि तक खोती जा रही थीं यशोदा,
वह बहुविमना औ चिन्तिता हो रही थीं॥

यदि दधि मथने को बैठती दासियाँ थीं,
मथन रव उन्हें था चैन लेने न देता।
वह यह कह के ही रोक देती उन्हें थी,
तुम सब मिल के क्या कान को फोड़ दोगी।

दुख-वश सब धंधे बंद-से हो गये थे,
गृह जन मन मारे काल को थे बिताते।
हरि-जननि-व्यथा से मौन थीं शारिकायें,
सकल सदन में ही छा गई थी उदासी॥

प्रतिदिन कितने ही देवता थीं मनाती,
बहु यजन कराती विप्र के वृन्द से थीं।
नित घर पर नाना ज्योतिषी थीं बुलाती,
निज प्रिय सुत आना पूछने को यशोदा॥

सदन ढिग कहीं जो डोलता पत्र भी था,
निज श्रवण उठाती थीं समुत्कण्ठिता हो।
कुछ रज उठती जो पंथ के मध्य योंही,
बन अयुत दृगी तो वे उसे देखती थीं॥

गृह दिशि यदि कोई शीघ्रता साथ आता,
तब उभय करों से थामतीं वे कलेजा।
जब वह दिखलाता दूसरी ओर जाता,
तज हृदय करों से ढाँपती थीं दृगों को॥

मधुवन दिशि से वे तीव्रता साथ आता,
यदि नभ तल में थीं देख पाती पखेरू।
उस पर कुछ ऐसी दृष्टि तो डालती थीं,
लखकर जिसको था भग्न होता कलेजा॥

पथदिशि नहीं आँखें थीं लगी उत्सुका हो,
न हृदय तल ही की लालसा वर्धिता थी।
प्रतिपल करता था लाड़िलों की प्रतीक्षा,
यक-यक तन-रोआँ नंद की भामिनी का॥
प्रतिपल दृग देखा चाहते श्याम को थे,
अनुछन सुधि आती श्यामली मूर्त्ति की थी।
प्रतिनिमिष यही थीं चाहती नन्दरानी,
निज बदन दिखावे मेघ-सी कान्ति वाला॥

* * *

पवनदूत

नाना-चिन्ता सहित दिन को राधिका थीं बिताती,
आँखों को थीं सजल रखतीं उन्मना थीं बिताती।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं,
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थीं॥
बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह में थीं अकेली,
आके आँसू युगल-दृग में थे धरा को भिगोते।
आई धीरे इस सदन में पुष्पसद्‌गंध को ले,
प्रातः वाली सुपवन इसी काल वातायनों से॥
संतापों को विपुल बढ़ता देख के दुःखिता हो,
धीरे बोलीं सदुख उससे श्रीमती राधिका यों।

प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती,
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से ॥
क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है,
तू है मेरी चिरपरिचिता तू हमारी प्रिया है।
मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे वामता को,
पीड़ा खो के प्रणतजन की पुण्य होता बड़ा है ॥

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्रवाले,
जाके आये न मधुबन से औ न भेजा सँदेसा।
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ,
जाके मेरी सब दुखकथा श्याम को तू सुना दे ॥
जो ऐसा तू नहिं कर सके तो किया चातुरी से,
जाके रोने विकल बनने आदि ही को दिखा दे।
चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी,
हा! हा! मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे ॥

तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है,
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा,
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बना दे ॥

कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यानवाला,
ऊँचे-ऊँचे धवल-गृह की पंक्तियों से प्रशोभी।
जो है न्यारा नगर मथुरा प्राणप्यारा वहीं है,
मेरा सूना सदन तज के तू वहाँ शीघ्र ही जा ॥

जाते-जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे,
तो तू जा के निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।

धीरे-धीरे परस करके गात उत्ताप खोना,
सद्‌गंधों से श्रमित जन को हर्षितों-सा बनाना ॥
लज्जा-शीला-युवति पथ में जो कहीं दृष्टि आवे,
होने देना विवृत-वसना तो न तू सुन्दरी को।
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना,
होठों की औ कमल-मुख की म्लानतायें मिटाना ॥
जो पुष्पों के मधुर-रस को साथ सानन्द बैठे,
पीते होवें भ्रमर-भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा-सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न हों वे,
क्रीड़ा होवे नहिं कलुषिता केलि में हो न बाधा॥
तेरे जैसी मृदु-पवन से सर्वथा शान्ति-कामी,
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो।
तो तू मेरे सकल दुख को भूल के धीर होके,
खोना सारा कलुष उसका शान्तिसर्वांङ्ग होना॥
कोई क्लांता कृषक-ललना खेत में जो दिखावे,
धीरे-धीरे परस उसको क्लांति सर्वांङ्ग खोना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला,
छाया सीरी सुखद करना, शीश तप्तांगना के॥

उद्यानों में सु-उपवन में वापिका में सरों में,
फूलोंवाले नवल तरु में पत्रशोभी द्रुमों में,
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना,
कुंजों में औ कमल-कुल में वीथिका में वनों में॥
जाते-जाते पहुँच मथुरा-धाम में उत्सुका हो,
न्यारी शोभा वर नगर की देखना मुग्ध होना।

तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को,
आभावाले कलश जिनके दूसरे अर्क से हैं॥
तू पूजा के समय मथुरा मन्दिरों मध्य जाना,
नाना वाद्यों मधुर-स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।
किम्वा ले के कियत तरु के शब्दकारी फलों को,
धीरे-धीरे रुचिर-रव से मुग्ध हो-हो बजाना॥

नीचे पुष्पों लसित तरु के जो खड़े भक्त होवें,
किम्वा कोई उपल-गठिता-मूर्ति हो देवता की।
तो डालों को परम मृदुता मंजुता से हिलाना,
औ यों वर्षा कुसुम करना शीश देवालयों के॥

तू पावेगी बर नगर में एक भूखण्ड न्यारा,
शोभा देते अमित जिसमें राज-प्रासाद होंगे।
उद्यानों में परम-सुषमा है जहाँ संचिता-सी,
छीने लेते सरवर जहाँ बज्र की स्वच्छता हैं॥

तू देखेगी जलद-तन को जा वहीं तद्गता हो,
होंगे लोने नयन उनके ज्योति-उत्कीर्णकारी।
मुद्रा होगी बर-बदन की मूर्त्ति सी सौम्यता की,
सीधे सीधे बचन उनके सिक्तपीयूष होंगे॥

प्यारे ऐसे अपर जन भी जो वहाँ दृष्टि आवें,
देवों के से प्रथित-गुण से तो उन्हें चीन्ह लेना।
वे हैं थोड़े यदपि वय में तेजशाली बड़े हैं,
तारों में है न छिप सकता कंत राका निशा का॥

बैठे होंगे जिस थल वहाँ भव्यता भूरि होगी,
सारे प्राणी बदन लखते प्यार के साथ होंगे।

पाते होंगे परम निधि औ लूटते रत्न होंगे,
होती होंगी हृदयतल की क्यारियाँ पुष्पिता-सी॥
बैठे होंगे निकट जितने शान्त औ शिष्ट होंगे,
मर्य्यादा का सकल जन को ध्यान होगा बड़ा ही।
कोई होगा न कह सकता बात दुर्वृत्तता की,
पूरा-पूरा हृदय सब के श्याम आतंक होगा॥
प्यारे-प्यारे वचन उनसे बोलते श्याम होंगे,
फैली जाती हृदय उनके हर्ष की बेलि होगी।
देते होंगे महत गुण वे देख के नैन कोरों,
लोहा को छू कलित कर से स्वर्ण होंगे बनाते॥
सीधे जाके प्रथम गृह के मंजु उद्यान में तू,
जो थोड़ी भी तरन तन हो सिक्त हो के मिटाना।
निर्धूली हो सरस रज से पुष्प के लिप्त होना,
पीछे जाना प्रियसदन में स्निग्धता से बड़ी ही॥
जाते ही छू कमलदल से पांव को पूत होना,
काली-काली अलकमृदुता से कपोलों हिलाना।
क्रीड़ायें भी कलित करना ले दुकूलादिकों को,
धीरे-धीरे परस तन को प्यार की बेलि बोना॥
तेरे में है यह गुण जो तू व्यथायें सुनाये,
तू कामों को प्रखर मति औ युक्तियों से चलाना।
बैठे जो हों सदन अपने मेघ-सी कान्तिवाले,
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना॥
जो चित्रों में बिरह-विधुरा-बाम का चित्र होवे,
तो तू जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना।

प्यारे हो के चकित जिस से चित्र की ओर देखें,
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी॥

जो कोई भी इस सदन में चित्र उद्यान का हो,
औ प्राणी हो बिपुल उसमें घूमते बावले-से।
तो तू जाके निकट उस के औ हिला के उसे भी,
कंसारी को सुरति ब्रज के व्याकुलों की कराना॥

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर लो डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला,
म्लाना हो-हो कमल पग को चूमना चाहती है॥

जो प्यारे मंजु-उपवन या बाटिका में खड़े हों,
छिद्रों में जा क्वणित करना वेणु लौं कीचकों को।
यों होवेगी सुरति उन को सर्व गोपांगना की,
जो वंशी के श्रवन हित हैं दीर्घ उत्कण्ठ होतीं॥

बैठे नीचे जिस बिटप के श्याम हों तू उसी का,
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यों प्यारे को विदित कराना चातुरी से दिखाना,
मेरे चिन्ता-विजित चित का क्लान्त हो काँप जाना॥

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो,
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे तू।
धीरे धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना,
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता लौं हमारा॥

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें,
धीरे-धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोड़ी-सी भी चरण-रज जो ला न देगी हमें तू,
हा! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूंगी॥

* * *

परिचय

जन्म सं० १९४१ मृत्यु सं० १९९८

शुक्ल जी हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक थे। आपने काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-शब्द-सागर' नामक बृहत् कोष का सम्पादन किया। आप कई वर्षों तक नागरी प्रचारिणी-सभा की मुखपत्रिका का सम्पादन करते रहे। तथा काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफ़ेसर और पश्चात् हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। वे बड़े सरल स्वभाव के, निष्कपट, आडंबर-विहीन और दुनियादारी से रहित व्यक्ति थे। जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी हुई उनकी आलोचनाएं उनकी विद्वत्ता, सहृदयता और मार्मिकता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे हिन्दी में एक-मात्र उच्च कोटि के निबंध-लेखक और आलोचक थे। 'विचार-वीथी' और 'चिन्तामणि' उनके कुछ निबन्धों के संग्रह हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शुक्ल जी के गंभीर अध्ययन और समालोचना-शक्ति का पता चलता है।

शुक्ल जी कवि भी उच्च कोटि के थे। उनका अनूदित 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्य व्रजभाषा की कविता का शृङ्गार है। आप खड़ी बोली में भी बड़ी सुन्दर कविता करते थे। शुक्ल जी प्रकृति के पुजारी थे। प्रकृति का जैसा वास्तविक रूप है वैसा ही उनकी कविता में देखने को मिलता है; अर्थात् वे प्रकृति का चित्र जैसा है वैसा ही खींचते हैं, उसमें अपने भावों का प्रतिबिम्ब नहीं देखते। शुक्ल जी करुणा रस की कविता लिखने में भी सिद्धहस्त थे। उनके 'शिशिर पथिक' और 'वसन्त-पथिक' में इसका अच्छा निर्वाह हुआ है। वे निस्सन्देह हमारी भाषा के गौरव थे।

कुमार का रंग-निवास

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारु हासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी॥
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई।
सींकन में गुछि झूलि रहीं जो मंद झकोरन पाई॥

चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक भारत भर में निज झलक दिखावैं॥
महकति कतहु अशोक मंजरी; कतहुँ कतहुँ पुर माहीं।
रामजन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं॥

छिटकी विमल विश्रामवन पै यामिनी मृदुता भरी।
वासित सुगंध प्रसून परिमल सौं, नछत्रन सों जरी॥
ऊँचे उठे हिमवान की हिमराशि सों मन भावनी।
संचरति शैल सुवायु शीतल मंद-मंद सुहावनी॥

चमकाय शृंगन चंद्र चढ़ि अब अमल अंबर-पथ गह्यो।
झलकाय निद्रित भूमि रोहिनि के हिलोरन को रह्यो॥
रसधाम के बाँके मुंडेरन पै रही द्युति छाय है।
तहँ हिलत डोलत नाहिं कोऊ कतहुँ परत लखाय है॥

बस हाँक केवल फाटकन पै पाहरुन की सुनि परै।
तहँ एक 'मुद्रा' कहि पुकारत एक 'अंगन' धुनि करै॥
बाजि उठत तोरणवाद्य हैं, पुनि भूमि नीरवता लहै।
कबहुँ बोलत फेरु, पुनि झनकार झींगुर की रहै॥

भवन भीतर जाति जालिन बीच सों छनि चाँदनी।
भीति पै औ भूमि पै जो सीप मर्मर की बनी॥

किरनमाल मयंक की तरुनीन पै है परि रही
स्वर्ग बिच विश्राम थल अमरीन को मानो यही
कुमार के रंगनिवास की हैं अलबेली नवेली तहाँ रमनी
लसैं छबि सोवत में मुख की प्रति एक की ऐसी लुनाई सनी
परै कहुँ जाहि पै दीठि जहाँ सोइ लगति सुन्दरि ऐसी घनी
यहै कहि आवत है मन में सब में यह रत्न अमोल घनी
पै बढ़ि सुन्दरि एक सों एक लखाति अनेक हैं पास परी
मोद में माति फिरैं अँखियाँ तहँ रूप के राशि के बीच भरी
रत्न की हाट में दौरति ज्यों मणि तें मणि ऊपर दीठि छरी
लोभि रहै प्रति एक पै जौ लगि और की ओर न जाय ढरी

सोवतीं सँभार बिनु सोभा सरसाय गात,
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओषधर।
चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैं कुसुम दाम,
कारे सटकारे कहूँ लहरत लंक पर॥
सोवैं थकि हास औ विलास सों पसारि पायँ,
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन-भर।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौ लौं,
जौ लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर॥
कंचन की दीवट पै दीपक सुगंध भरे,
जगमग होत भौन भीतर उजास करि।
आभा रंग-रंग की दिखाय रहीं तासों मिलि,
किरन मयंक की झरोखन सों ढरि-ढरि॥
देखि परैं, साँवरे सलोने, कहूँ गोरे मुख,
भ्रुकुटी विशाल बंक, बरुनी बिछी हैं श्याम।

अधखुले अधर, दिखात दंतकोर कछु,
चुनि धरे मोती मानो रचिवे के हेतु दाम॥
कोमल कलाई गोल, छोटे पायँ पैंजनी हैं,
देति झनकार जहाँ हिलैं कहूँ कोऊ वाम।
स्वप्न टूटि जात वाको जामें सो रही है पाय,
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम॥

* * *

हंस रक्षा

करत श्री भगवान गुरुजन को सदा सम्मान;
वचन कहत विनीत यद्यपि परम ज्ञाननिधान।
राजतेज लखात मुख पै, तदपि मृदु व्यवहार;
हृदय परम सुशील कोमल, यदपि शूर अपार।
कबहुँ जात अहेर को जब सखा लै सँग माहिँ;
साहसी असवार तिन सम कोऊ निकसत नाहिँ।
राजभवन समीप कबहूँ होड़ जो लगि जाय;
रथ चलावन माहिँ कोऊ तिन्हैं सकत न पाय।
करत रहत अहेर सहसा ठिठकि जात कुमार;
जान देत कुरङ्ग को भजि, लगत करन विचार।
कबहुँ जब घुरदौर में हय हाँकि छाँड़त साँस,
हार अपनी हेरि वा जब सखा होत उदास।
लगत कोऊ बात अथवा गुनन मन में आनि,
जीति आधी कुँवर बाजी खोय देतो जानि।
बढ़त ज्यों-ज्यों गयो प्रभु को वयस लहि दिन-राति,
बढ़ति दिन-दिन गई तिनकी दया याही भाँति।

यथा कोमल पात ह्वै तैं होत विटप विशाल,
करत छाया दूर लौं बहु जो गए कछु काल।
किंतु जानत नाहिं अब लौं रह्यो राजकुमार,
क्लेश, पीड़ा, शोक काको कहत है संसार।
इन्हैं ऐसी वस्तु कोऊ गुनत सो मन माहिं,
राजकुल में कबहुँ अनुभव होत जिनको नाहिं।
एक दिवस बसन्त ऋतु में भई ऐसी बात,
रहे उपवन बीच सों ह्वै हंस उड़ि कै जात।
जात उत्तर ओर निज-निज नीड़ दिशि ते धाय,
शुभ्र हिमगिरि-अंक में जो लसत ऊपर जाय।
प्रेम के सुर भरत बाँधे धवल सुन्दर पाँति,
उड़े जात विहङ्ग कलरव करत नाना भाँति।
देवदत्त कुमार चाप उठाय, शर संधानि
लक्ष्य अगिले हंस को करि मारि दीनो तानि।
जाय बैठ्यो पंख में सो हंस के सुकुमार,
रह्यो फैल्यो करन हित जो नील नभ को पार।
गिर्यो खग भहराय, तन में बिंध्यो विशिख कराल;
रक्तरञ्जित ह्वै गयो सब श्वेत पङ्ख विशाल।
देखि यह सिद्धार्थ लीनो धाय ताहि उठाय;
गोद में लै जाय बैठ्यो पद्म - आसन लाय।
फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय,
और धरकत हृदय को यों दियो धीर धराय।
नवल कोमल कदलिदल सम करन सों सहराय,
प्रेम सों पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय।

खैंचि लीनो निठुर शर करि यत्न बारम्बार
घाव पै धरि जड़ी-बूटी कियो बहु उपचार।
देखिवे हित पीर कैसी होति लागे तीर
लियो कँवर धँसाय सो शर आप खोलि शरीर।
चौंकि सो चट पर्‌यो पीरा परी दारुण जानि,
छाय नयनन नीर खग पै लग्यो फेरन पानि।
पास ताके एक सेवक तुरत बोल्यो आय
"अबै मेरे कुँवर ने है हंस दियो गिराय।
गिर्‌यो पाटल बीच बिधि कै ठौर पै सो याहि।
मिलै मोको, प्रभो! मेरे कुँवर माँगत ताहि।"
बात ताकी सुनत बोल्यो तुरत राजकुमार
"जाय कै कहि देहु देहौं नही काहु प्रकार।
मरत जो खग अवसि पावत ताहि मारनहार,
जियत है जब तासु तापै नाहिँ कछु अधिकार।
दियो मेरे बन्धु ने बस तासु गति को मारि
रही जो इन श्वेत पंखन की उठावनहारि।"
देवदत्त कुमार बोल्यो "जियै वा मरि जाय,
होत पंछी तासु है जो देत वाहि गिराय।
नाहिँ काहू को रह्यो जौ लौं रह्यो नभ माहिँ;
गिरि पर्‌यो तब भयो मेरो, देत हौ क्यों नाहिँ?"
लियो तब खगकंठ को प्रभु निज कपोलन लाय,
पुनि परमगंभीर स्वर सों कह्यो ताहि बुझाय।
"उचित है यह नाहिँ जो कछु कहत हो तुम बात,
गयो है यह विहग मेरो, नाहिँ दहौं, तात!
जीव बहु अपनायहौं या भाँति या संसार

दया को औ प्रेम को निज करि प्रभुत्व प्रसार।
दयाधर्म सिखायहौं मैं मनुजगन को टेरि;
मूक खग पशु के हृदय की बात कहिहौं हेरि।
रोकिहौं भवताप की यह बढ़ति धार कराल।
परे जामें मनुज तें लै सकल जीव बिहाल।
किंतु चाहै कुँवर तो चलि विज्ञजन के तीर
कहै अपनी बात चाहैं न्याय धरि जिय धीर"
भयो अन्त विचार नृप के सभामंडप माहिँ।
कोउ ऐसो कहत, कोऊ कहत ऐसो नाहिँ।
कह्यो यही बीच उठि अज्ञात पंडित एक
"प्राण है यदि वस्तु कोऊ करौ नैकु विवेक;
जीव पै है जीवरच्छक को सकल अधिकार,
स्वत्व वाको नाहिँ चाह्यो बधन जो करि वार।
बधक नासत औ मिटावत, रखत रच्छनहार;
हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार।"
लग्यो सारी सभा को यह उचित न्याय-विधान।
भई मुनि की खोज पै सो भए अन्तर्द्धान।
व्याल रेंगत लख्यो सब तहँ और काहुहि नाहिँ;
देवगण या रूप आवत कबहुँ भूतल माहिँ।
दया के शुभ कार्य्य को आरम्भ याहि प्रकार
कियो श्री भगवान ने लखि दुखी यह संसार।
छाँड़ि पीर विहंग की, उड़ि मिल्यो जो निज गोत,
और क्लेश न कुँवर जानत कहाँ कैसे होत।

• • •

जयशंकर प्रसाद

परिचय

जन्म सं० १९४६

मृत्यु सं० १९९४

प्रसादजी का जन्म काशी के एक ऐश्वर्यशाली महादानी वैश्य वंश में हुआ था। आप तथा आपके पूर्वज, सूंघनी का व्यापार किया करते थे, अतः उसका वंश 'सूंघनीवाला' कहलाता है। आपके पितामह शिवरत्न साहू जी, बनारस के परोपकारी, दानियोंमें सर्व-श्रेष्ठ गिने जाते थे। कोई भी व्यक्ति जिस इच्छा से जाता, खाली न आता। उन्होंने काशी में शिवालय तथा अन्य धार्मिक स्थान भी बनवाये। काशी के प्राचीन पुरुष साहू जी की दानशीलता का वर्णन प्रायः अब भी अत्यन्त रोचकता से करते हुए सुनाई देते हैं। इस विषय में शिवरत्न की समता काशी नरेश के साथ की जाती है। प्रसादजी के पिता का नाम श्री देवीप्रसाद जी था। इनके समय में सूंघनी का व्यापार चरम सीमा तक पहुँच चुका था। लक्ष्मी की तो उनपर भरपूर कृपा ही रहती थी अतः वे चाहते थे कि हमारे वंश में सरस्वती का कृपापात्र उत्पन्न हो तो बहुत अच्छा है। प्रसादजी ने अपने पिताजी की मनोकामना को परिपूर्ण ही नहीं कर दिया, प्रत्युत सर्वदा के लिए उस वंश को अमर भी कर दिया। दुःख है कि वह अपने इस पुत्र के महान् यश को अपनी आँखों से न निहार सके। अभी प्रसाद जी बारह वर्ष के बच्चे ही थे कि इनके पिता स्वर्ग सिधार गये। उस समय प्रसाद जी सातवीं श्रेणी में पढ़ रहे थे। पिता की असामयिक मृत्यु के कारण आपका विद्यालय जाना बन्द हो गया और परिवार का सारा भार संभालना पड़ा, परन्तु परिस्थितियों के विपरीत होने

पर भी, अपने लक्ष्य को न छोड़ना ही तो धीरों का परम कर्तव्य है। आपने स्कूल छोड़कर घर पर ही पढ़ने का प्रबन्ध कर लिया। कुछ समय तक धुरन्धर विद्वानों से संस्कृत का अध्ययन करते रहे। आपने उन्नीस वर्ष की स्वल्प आयु में ही गम्भीर ऐतिहासिक गवेषणाएं की थीं तथा छायावाद नामक नवीन शैली की कविता करना आरम्भ कर दिया था। क्रमशः आपने हिन्दी साहित्य की इतनी ठोस सेवाएं कीं कि इससे हिन्दी जगत् ही क्यों सम्पूर्ण भारत भी कभी उऋण नहीं हो सकता। कविजी ने कई भिन्न रूपों में हिन्दी साहित्य की भी वृद्धि की। उनमें से सर्वप्रथम तो यह कि हिन्दी साहित्य के काव्यक्षेत्र को परिष्कृत कर सुरुचि की ओर प्रवृत्त किया और वास्तविक सत्य मार्ग पर चलाया।

कहने का तात्पर्य है कि प्राचीन काव्यकार या तो शृंगार से सर्वथा अछूते रहा करते थे, या ऐसे शृंगार से भरे रहते थे कि नाम लेते ही घृणा उत्पन्न हो जाय। वास्तव में ये दोनों ही मार्ग असमीचीन हैं; इसे प्रत्येक सहृदय स्वीकार करेगा। किन्तु प्रसादजी ने साहित्य क्षेत्र में प्रवेश कर सात्विक प्रेम का परिचय करते हुए कर्तव्य-पालन करने का उपदेश किया।

हिन्दी में छायावाद में आप सर्वप्रथम माने जाते हैं। छाया-वाद की महत्ता प्रदर्शित करने का यह अवसर नहीं, अतः इतना ही कह देना पर्याप्त है कि प्रसादजी ने नवीन शैली तथा नये विचारों द्वारा हिन्दी साहित्य-भण्डार को अपूर्णता के दोष से ही नहीं बचा लिया, प्रत्युत शतशः कवियों को अपने मार्ग पर चला-कर भी अपना अनुयायी बनाकर सर्वदा के लिए अक्षय बना दिया मौलिक नाटक-लेखकों में भी आप ही हिन्दी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ नाटककार और पथप्रदर्शक माने जाते हैं, प्राचीन युग की गवेषणा

विशेषकर बौद्ध युग के इतिहास के अनुसन्धान के कार्य की दृष्टि से तो आपका स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है।

इसके अतिरिक्त आपने उपन्यास, आख्यान आदि भी अत्यन्त मार्मिकतापूर्ण लिखे। कहने का तात्पर्य यह है कि आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपने वर्तमान साहित्य के प्रचलित विषयों तथा शैलियों पर तो लिखा ही है साथ ही नई-नई शैली, नये-नये विषयों पर भी बहुत कुछ लिखा है। उनमें मनुष्य के लिए आवश्यक या महापुरुषों में रहने वाले 'सरस्वती' 'लक्ष्मी' तथा 'रति-सुन्दरता' तीनों देवियां निवास करती थीं, किन्तु अत्यन्त सुन्दर और परम धनवान् होते हुए भी आप तत्त्वदर्शी की भांति जल में स्थित पद्म-पत्र के समान इस नश्वर सुखोपभोग या सांसारिक ऐश्वर्य से सर्वदा निर्लिप्त रहते थे। आपकी वेष-भूषा, खान-पान सर्वदा साधारण ही था। इस लोक में प्रसादजी का हिन्दी साहित्य में स्थान उतना ऊँचा है, जितना कि महाकवि गोस्वामी तुलसीदास तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त अजातशत्रु आदि नाटक एवं कंकाल, तितली आदि उपन्यासों के अतिरिक्त कामायनी आपका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

ईर्ष्या

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार!
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अन्धकार!

मनु को अब मृगया छोड़ नहीं
रह गया और था अधिक काम;
लग गया रक्त था उस मुख में
हिंसा-सुख लाली से ललाम।

हिंसा ही नहीं और भी कुछ
वह खोज रहा था मन अधीर;
अपने प्रभुत्व की सुख सीमा
जो बढ़ती हो अवसाद चीर।

जो कुछ मनु के करतल गत था
उसमें न रहा कुछ भी नवीन;
श्रद्धा का सरल विनोद नहीं
रुचता अब था बन रहा दीन।

उठती अन्तस्तल से सदैव
दुर्ललित लालसा जो कि कांत;
वह इन्द्र-चाप-सी झिलमिल हो
दब जाती अपने-आप शांत।

"निज उद्गम का मुख बंद किये
कब तक सोयेंगे अलस प्राण;

जीवन की चिर चंचल पुकार
रोये कब तक, है कहाँ त्राण!

श्रद्धा का प्रणय और उसकी
आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति;
जिसमें व्याकुल आलिंगन का
अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति।

भावनामयी वह स्फूर्ति नहीं
नव नव स्मित रेखा में विलीन;
अनुरोध न तो उल्लास, नहीं
कुसुमोद्गम-सा कुछ भी नवीन!

आती है वाणी में न कभी
वह चाव भरी लीला हिलोर,
जिस में नूतनता नृत्यमयी
इठलाती हो चंचल मरोर।

जब देखो बैठी हुई वहीं
शालियाँ बीन कर नहीं श्रांत।
या अन्न इकट्ठे करती है
होती न तनिक-सी कभी क्लांत।

बीजों का संग्रह और उधर
चलती है तकली भरी गीत;
सब कुछ लेकर बैठी है वह
मेरा अस्तित्व हुआ अतीत!"

लौटे थे मृगया से थक कर
दिखलाई पड़ता गुफा द्वार;

पर और न आगे बढ़ने की
इच्छा होती, करते विचार!

मृग डाल दिया, फिर धनु को भी,
मनु बैठ गये शिथिलित शरीर,
बिखरे थे सब उपकरण वहीं
आयुध, प्रत्यंचा, शृंग, तीर!

"पश्चिम की रागमयी संध्या
अब काली है हो चली, किंतु,
अब तक आये न अहेरी वे
क्या दूर ले गया चपल जंतु!"

यों सोच रही मन में अपने
हाथों में तकली रही घूम;
श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी चली
अलकें लेती थीं गुल्फ चूम।

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशाता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह!

मातृत्व बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

सोने की सिकता में मानो
कालिंदी बहती भर उसास;

स्वर्गंगा में इंदीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास!

मनु ने देखा जब श्रद्धा का
वह सहज खेद से भरा रूप;
अपनी इच्छा का दृढ़ विरोध
जिसमें वे भाव नहीं अनूप।

वे कुछ भी बोले नहीं; रहे
चुप चाप देखते साधिकार,
श्रद्धा कुछ-कुछ मुस्कुरा उठी
ज्यों जान गई उनका विचार।

"दिन भर थे कहाँ भटकते तुम"
बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह
"यह हिंसा इतनी है प्यारी
जो भुलवाती है देह-गेह!

मैं यहाँ अकेली देख रही
पथ, सुनती-सी पद-ध्वनि नितांत;
कानन में जब तुम दौड़ रहे
मृग के पीछे बन कर अशांत!

ढल गया दिवस पीला-पीला
तुम रक्तारुण वन रहे घूम;
देखो नीड़ों में विहग युगल
अपने शिशुओं को रहे चूम!
उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा-द्वार!

तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार ?"

'श्रद्धे ! तुमको कुछ कमी नहीं
पर मैं तो देख रहा अभाव;
भूली-सी कोई मधुर वस्तु
जैसे कर देती विकल घाव।

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह !
गति हीन पंगु-सा पड़ा-पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा डीह।

जब जड़ बंधन-सा एक मोह
कसता प्राणों का मृदु शरीर;
आकुलता और जकड़ने की
तब ग्रंथि तोड़ती हो अधीर।

हँस कर बोले, बोलते हुए
निकले मधु निर्झर ललित गान;
गानों में हो उल्लास भरा
झूमें जिसमें बन मधुर प्रान

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल;
आशा के कोमल तंतु सदृश
तुम तकली में हो रही झूल;
यह क्यों क्या मिलते नहीं तुम्हें
शावक के सुन्दर मृदुल चर्म ?

तुम बीज बीनती क्यों ? मेरा
मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।
तिस पर यह पीलापन कैसा
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद!
यह किसके लिए बताओ तो
क्या इसमें है छिप रहा भेद?"
"अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ!
चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों मांसल बनकर
हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम।
वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु;"
"मैं यह तो मान नहीं सकता
सुख सहज लब्ध यों छूट जायं,

जीवन का जो संघर्ष चले
वह विफल रहे हम छले जायं।
काली आँखों की तारा में,
मैं देखूँ अपना चित्र धन्य;
मेरा मानस का मुकुर रहे,
प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य।

श्रद्धे ! यह नव संकल्प नहीं—
चलने का लघु जीवन अमोल;
मैं उसको निश्चय भोग चलूँ
जो सुख चलदल-सा रहा डोल !

देखा क्या तुमने कभी नहीं
स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य ?
फिर नाश और चिर निद्रा है
तब इतना क्यों विश्वास सत्य ?

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग ?
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग ?

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार !
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार
मेरा सुन्दर विश्राम बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक;

जिसमें बहती हो मधु-धारा
लहरें उठती हों एक-एक।"

"मैंने जो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर;"
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर।

उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी-सी शांति-पुंज;
कोमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनातीं जहाँ कुंज।

थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र;
आवें क्षण भर तो चले जायं
रुक जायं कहीं न समीर अभ्र।

उसमें था झूला पड़ा हुआ
वेतसी लता का सुरुचिपूर्ण;
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि चूर्ण।

कितनी मीठी अभिलाषाएं
उसमें चुपके से रहीं घूम
कितने मंगल के मधुर गान
उसके कोनों को रहे चूम

मनु देख रहे थे चकित नया
यह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान

पर कुछ अच्छा-सा नहीं लगा
यह क्यों किसका सुख साभिमान ?

चुप थे पर श्रद्धा ही बोली
"देखो यह तो बन गया नीड़;
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ,
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ।

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
'चल री तकली धीरे-धीरे
प्रिय गये खेलन को अहेर।

जीवन का कोमल तंतु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान;
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटें
सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।

किरनों-सी तू बुन दे उज्ज्वल
मेरे मधु जीवन का प्रभात;
जिसमें सौंदर्य्य प्रकृति सरल
ढँक ले प्रकाश से नवल गात।

वासना भरी उन आँखों पर
आवरण डाल दे कांतिमान;

जिसमें सौंदर्य्य निखर आवे
लतिका में फुल्ल कुसुम समान।

अब वह आगंतुक गुफा बीच
पशु-सा न रहे निर्वसन नग्न;
अपने अभाव की जड़ता में
वह रह न सकेगा कभी मग्न।

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न;
मैं उसके लिए बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।

झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी वदन चूम;
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।

वह आवेगा मृदु मलयज-सा
लहराता अपने मसृण बाल;
उसके अधरों से फैलेगा
नव मधुमय स्मिति लतिका-प्रवाल।

अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसे मधुर बोल;
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।

मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध;

उन निर्विकार नयनों में जब
देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।"
"तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभ तरंग;
मैं सुरभि खोजता भटकूंगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।
यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिये मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।
यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार!
भिक्षुक मैं ? ना, वह कभी नहीं
मैं लौटा लूँगा निज विचार।
तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न बिंदु;
इस सुख नभ में मैं विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इंदु।
भूले से कभी निहारोगी
कर आकर्षणमय हास एक;
मायाविनि! मैं न उसे लूँगा
वरदान समझकर जानु टेक!
इस दीन अनुग्रह का मुझ पर
तुम बोझ डालने में समर्थ;

अपने को मत समझो अबूझे !
होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ ।
तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुःख पाने दो स्वतन्त्र;
'मन की परवशता महा दुःख'
मैं यही जपूँगा महा-मन्त्र ।
लो चला आज मैं छोड़ यहीं
संचित संवेदन भार पुंज,
मुझको काँटे ही मिलें धन्य !
हो सफल तुम्हें ही कुसुम-कुञ्ज ।"
कह ज्वलन-शील अंतर लेकर
मनु चले गये, था शून्य प्रांत;
"रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !"
वह कहती रही अधीर श्रांत ।

* * *

मैथिलीशरणगुप्त

परिचय

जन्म सं० १६४३

गुप्त जी का निवास-स्थान चिरगाँव ज़िला झाँसी है। उनके पिता सेठ श्री रामचरण गुप्त स्वयं एक अच्छे कवि थे। काव्य करने की प्रवृत्ति उन्हें पिता से और प्रोत्साहन द्विवेदी जी से मिला। आपकी रहनी अत्यन्त सादी है और स्वभाव अति नम्र। वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी आप परम उदार हैं। आज तक कवि के नाते जितना लोक-सम्मान इन्हें प्राप्त हुआ है, इस युग के और किसी भी कवि को नहीं प्राप्त हो सका। इनकी कविता की श्रेष्ठता की कसौटी यही 'लोकप्रियता' है। गुप्त जी की कविता सचमुच सारे हिन्दी जगत् में कुतूहल की वस्तु है। उससे सारे राष्ट्र और हिन्दू समाज को जागृति मिली है। कविता की भाषा व्याकरण के नियमों पर कसी हुई विशुद्ध खड़ी बोली है। राष्ट्र और समाज उनकी ये दो ध्येय वस्तुएँ हैं। उन्होंने जो लिखा है, इन दोनों के उत्थान के लिए, इन दोनों में जागृति उत्पन्न करने के लिए। 'भारत-भारती' उनकी पहली और अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसमें भारत के अतीत और वर्तमान का सजीव चित्र खींचा गया है। 'रंग में भंग' 'किसान' 'वैतालिक' 'स्वदेश-संगीत' 'पत्रावली' 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' में भी स्वदेश प्रेम का संगीत भरा है। 'जयद्रथवध' 'पंचवटी', 'सैरन्ध्री' 'शकुन्तला' 'वकसंहार' 'वन-वैभव' 'साकेत' और 'यशोधरा' में आर्य-संस्कृति के उपदेश मिलते हैं। 'चन्द्रहास' 'अनघ' 'तिलोत्तमा' ये उनके नाटक हैं 'मेघनाद-वध' और 'पलासी का युद्ध' के उन्होंने सफल पद्यानुवाद किये हैं। उनकी 'साकेत' रचना पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। 'द्वापर' आपकी नवीनतम और अत्युत्कृष्ट रचना है।

यशोधरा

राहुल

अम्ब, मेरी बात तुझ तक कैसे जाती है ?

यशोधरा

बेटा, वह वायु पर बैठ उड़ आती है;

राहुल

होंगे जहाँ तात क्या न होगा वायु माँ, वहाँ ?

यशोधरा

बेटा, जगत्प्राण वायु, व्यापक नहीं कहाँ ?

राहुल

क्यों अपनी बात वह ले जाता वहाँ नहीं ?

यशोधरा

निज ध्वनि फैल कर लीन होती है यहीं।

राहुल

और उनकी भी वहीं ? फिर क्या बड़ाई है ?

यशोधरा

सबने शरीर-शक्ति मित की ही पाई है।
मन ही के पाप से मनुष्य बड़ा छोटा है,
और अनुपात से उसी के खरा-खोटा है।
साधन के कारण ही तन की महत्ता है,
किन्तु शुद्ध मन की निरुद्ध कहाँ सत्ता है।

करते हैं साधन विजन में वे तन से,
किन्तु सिद्धि-लाभ होगा मन से, मनन से।
देख निज; नेत्र-कण जा पाते नहीं वहाँ,
सूक्ष्म मन किन्तु दौड़ जाता है कहाँ कहाँ!
वत्स, यही मन जब निश्चलता पाता है,
आ कर इसी में तब सत्य समा जाता है।

राहुल

तो मन ही मुख्य है माँ?

यशोधरा

बेटा, स्वस्थ देह भी
योग्य अधिवासी के लिये हो योग्य गेह भी।

राहुल

विहग-समान यदि अम्ब, पंख पाता मैं,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं।
मंडल बना कर मैं घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस वन में।
कहता मैं—तात, उठो, घर चलो, अब तो;
चौंक कर अम्ब, मुझे देखते वे तब तो।
कहते—"तू कौन है?" तो नाम बतलाता मैं,
और सीधा मार्ग दिखा शीघ्र उन्हें लाता मैं।
मेरी बात मानते हैं मान्य पितामह भी,
मानते अवश्य उसे टालते न वह भी।
किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं,

हाय ! पक्षियों से भी मनुष्य गये-बीते हैं।
हम थलवासी जल में तो तैर जाते हैं,
किन्तु पक्षियों की भाँति उड़ नहीं पाते हैं।
मानवों को पंख क्यों विधाता ने नहीं दिये ?

यशोधरा

पंखों के विना ही उड़े चाहें तो, इसी लिये !

राहुल

पंखों के बिना ही अम्ब ?

यशोधरा

और नहीं ?

राहुल

कैसे माँ ?

यशोधरा

भूल गया ?

राहुल

ओहो ! हनूमान उड़े जैसे माँ !
क्योंकर उड़े वे भला ?

यशोधरा

बेटा, योग-बल से।

राहुल

मैं भी योग-साधन करूँगा अम्ब, कल से।

* * *

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते ।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते ।
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,—
क्षात्र-धर्म के नाते ।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते ।
हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते ।
नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इन से जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते ।

पायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुःख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?—
आज अधिक वे भाते!

सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते?

सखि वे मुझसे कह कर जाते।

* * *

जलने को ही स्नेह बना।

उठने को ही वाष्प बना,
गिरने को ही मेह बना।

जलता स्नेह जलावेगा ही,
फोले वाष्प फलावेगा ही,
मिट्टी मेह गलावेगा ही;
सब सहने को देह बना!
जलने को ही स्नेह बना।

यही भला आँसू बह जावें,
रक्त-बिन्दु कह किसको भावें?
मैं उठ जाऊँ सखि, वे आवें,
बसने को ही गेह बना,
जलने को ही स्नेह बना,

आओ हो वनवासी!
अब गृह-भार नहीं सह सकती,
देव, तुम्हारी दासी।
राहुल पल कर जैसे-तैसे,
करने लगा प्रश्न कुछ वैसे,
मैं अबोध उत्तर दूँ कैसे?
वह मेरा विश्वासी, आओ हो वनवासी।

उसे बताऊँ क्या, तुम आओ,
मुक्ति-युक्ति मुझसे सुन जाओ—
जन्म—मूल मातृत्व मिटाओ,
मिटे मरण-चौरासी! आओ हो वनवासी!

सहे आज यह मान तितिक्षा,
क्षमा करो मेरी यह शिक्षा।
हमीं गृहस्थ जनों की भिक्षा,
पालेगी संन्यासी! आओ हो वनवासी!

मुझको सोती छोड़ गये हो,
पीठ फेर मुँह मोड़ गये हो,
तुम्हीं जोड़ कर तोड़ गये हो,
साधु विराग-विलासी! आओ हो वनवासी!

जल में शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते, हम न तरसते,
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी! आओ हो वनवासी।

श्याम नारायण पाण्डेय

परिचय

जन्म सं० १९६७

आपके पिता का नाम पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय है। आपको कविता करने की रुचि अध्ययन-काल से ही है। प्रथम आपने 'त्रेता के दो वीर' नामक एक काव्य लिखा। आपकी प्रतिभा का पूर्ण विकास 'हल्दीघाटी' नामक महाकाव्य में दिखाई पड़ा। उत्साह की अनेक अन्तर्दशाओं की व्यंजना तथा युद्ध की अनेक परिस्थितियों के चित्रण से पूर्ण यह काव्य खड़ी बोली में अपने ढंग का एक ही है। युद्ध के समाकुल वेग और संघर्ष का ऐसा सजीव और प्रवाहपूर्ण वर्णन अन्यत्र देखने में नहीं आता। आपका दूसरा महाकाव्य 'जौहर' है। इसमें वीर दर्पपूर्ण शब्दावली तो है ही, आदि से अन्त तक करुणा धारा का हृदय-द्रावक प्रवाह भी है।

पाण्डेय जी की कविताओं में भारतीय परम्परा की संचित संस्कृति राष्ट्रीयता के साथ है।

आप अतीत से सारे सम्बन्ध विच्छेद करके अज्ञात और अज्ञेय भविष्य में कूद पड़ने के लिए उत्सुक नहीं हैं; आपकी वाणी में भारत की अतीत संस्कृति वर्त्तमान युग के शब्दों में बोलती है।

आपके भाव आधुनिक, शब्द ओजस्वी और कल्पना रोमांचकारी है। आप युग का सन्देश देते हुए वर्त्तमान समस्याओं का समाधान करते हैं, भारतीय हृदयों में राष्ट्रीय चेतना भरते हैं, योग्य भारतीय बनाते हुए अन्ताराष्ट्रीय बनाते हैं। एक शब्द में जीवनदान करते हैं। इस समय भारतीय राष्ट्र के आप सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवियों में से हैं। प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित परिमित पंक्तियों ही से पाठकों को पाण्डेय जी की अपूर्व प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जायगा।

चितौड़

नहीं देखते सतियों के जलने का है अंगार कहाँ ?
राजपूत ! तेरे हाथों में, है नंगी तलवार कहाँ ?

कहाँ पद्मिनी का पराग है, शिर से उसे लगा लें हम ।
रत्नसिंह का कहाँ क्रोध है, गात-रक्त गरमा लें हम ॥

जौहर-व्रत करने वाली करुणा की करुण पुकार कहाँ ?
और न कुछ कर सकते तो, देखें उसकी तलवार कहाँ ॥

मन्द पड़े जिससे वैरी, वह भीषण हाहाकार कहाँ !
स्वतन्त्रता के संन्यासी, राणा का रण-उद्गार कहाँ ॥

किस न वीर की दमक उठी थी, दीप्ति दीपिका-माला-सी ।
कौन वीर-बाला न चिता पर, चमक उठी थी ज्वाला-सी ॥

जमा सके अधिकार तनिक, खिलजी करके हथियार नहीं ।
ठहर सकी क्षण-भर इस पर, अकबर की भी तलवार नहीं ॥

गोरा-बादल के खँडहर से, निकल रही है आग अभी ।
स्वतन्त्रता के मन्दिर का, जलता अविराम चिराग अभी ॥

दुश्मन की तलवार फिरी, वीरों की बोटी-बोटी पर ।
अभी वीरता खेल रही है, इसकी उन्नत चोटी पर ॥

यही देश राणा प्रताप की स्वतन्त्रता का अवलम्बन ।
इसी भूमि-कण का दर्शन है, शत-शत मन्दिर का दर्शन ॥

इसी भूमि की पूजा की, वीरों ने रण की चाहों से ।
माँ-बहनों ने जौहर से, दीनों ने अपनी आहों से ॥

इंच-इंच भर धरती तर थी, बहादुरों के खूनों से।
किया गया था नित्य इसी का, अर्चन प्राण-प्रसूनों से॥

जन-रक्षा के लिये यहीं, वीरों की सेना सजती थी।
वैरी को दहलाने वाली, रण-भेरी नित बजती थी॥

ऐ मेरे चित्तौड़ देश, बिखरे-प्रश्नों को कर दे हल;
साहस भर दे हृदय-हृदय में, बाहु-बाहु में भर दे बल॥

वीर-रक्त से तू पवित्र है, तू मेरे बल का साधन।
बोल-बोल तू एक बार फिर कब देगा राणा-सा धन॥

* * *

हल्दीघाटी

राणा का जयकार भरा, इसमें स्वदेश का प्यार भरा।
शान्त-जलधि में ज्वार भरा, नीरव में हाहाकार भरा॥

साहस-बल उद्गार भरा, रण-चण्डी का हुङ्कार भरा।
इसी भूमि-रज-कण-कण में, अरि नागों का फुङ्कार भरा॥

यही यही हल्दीघाटी है, उछल कलेजा काट लिया।
अपनी लोहित जीभ बढ़ाकर, रक्त हमारा चाट लिया॥

इसी समर के भय से कितने, देवालय मसजीद हुए।
युद्धस्थल है वही जहाँ नर, मर-मर अमर शहीद हुए॥

अब तक जिससे शिर ऊँचा है, ऐसा ही कुछ काम किया।
बिगुल बजाकर यहीं भयंकर, राणा ने संग्राम किया॥

जन-रक्षा के लिए यहीं, कण-कण में रक्त बहाया था।
इसी भूमि पर राणा ने, अपना सर्वस्व लुटाया था॥

पचहत्तर मन तौल दिया था, राणा ने उपवीत यहीं।
दुश्मन से कह दिया तुम्हारी, हार हुई है जीत नहीं॥

कूद पड़े सब वीर सिपाही, इसी धधकती ज्वाला में,
यहीं देश पर मर मिटने का, देखा साहस भाला में॥

मौन-मौन गिरि कहते हिलमिल, गाथा वीर जवानों की।
एक-एक पत्थर कहता है, करुण-कथा बलिदानों की॥

तरु के पत्तों पर अंकित-राणा की अमर कहानी है।
अब तक पथ से मिटी नहीं, चेतक की चरण-निशानी है॥

"स्वतन्त्रता के लिए मरो," राणा ने पाठ पढ़ाया था।
इसी वेदिका पर वीरों ने, अपना शीश चढ़ाया था॥

तुम भी तो उनके वंशज हो, काम करो, कुछ नाम करो।
स्वतन्त्रता की बलि-वेदी है, झुककर इसे प्रणाम करो॥

* * *

एक झलक

जग में जागृति पैदा कर दूँ, वह मन्त्र नहीं, वह तन्त्र नहीं।
कैसे वांछित कविता कर दूँ, मेरी यह कलम स्वतन्त्र नहीं॥
अपने उर की इच्छा भर दूँ, ऐसा है कोई यन्त्र नहीं।
हलचल-सी मच जाये पर-यह लिखता हूँ रण षड्-यन्त्र नहीं॥
ब्राह्मण है तो आँसू भर ले, क्षत्रिय है नत मस्तक कर ले,
है वैश्य शूद्र तो बार-बार, अपनी सेवा पर शक कर ले॥
दुख देह पुलक कम्पन होता, हा, विषय गहन यह नभ-सा है।
यह हृदय-विदारक वही समर, जिसका लिखना दुर्लभ-सा है॥
फिर भी पीड़ा से भरी कलम, लिखती प्राचीन कहानी है।
लिखती हल्दीघाटी रण की, वह अजर अमर कुर्बानी है॥
सावन का हरित प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फहराकर पंख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर-छटा॥
पड़ रही फुही झींसी झिन-झिन, पर्वत की हरी वनाली पर।
'पी कहाँ' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर॥
वारिद के उर में चमक-दमक, तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह-रह कर जल था बरस रहा, रणधीर-भुजा थी फड़क रही॥
था मेघ बरसता झिमिर-झिमिर, तटिनी की भरी जवानी थी।
बढ़ चली तरंगों की असि ले, चण्डी-सी वह मस्तानी थी॥
वह घटा चाहती थी जल से, सरिता-सागर-निर्झर भरना।
यह घटा चाहती शोणित से, पर्वत का कण-कण तर करना॥

धरती की प्यास बुझाने को, वह घहर रही थी घन-सेना।
लोहू पीने के लिए खड़ी-यह हहर रही थी जन-सेना॥
नभ पर चम-चम चपला चमकी, चम-चम चमकी तलवार इधर।
भैरव अमन्द घन-नाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर॥
वह कड़-कड़-कड़-कड़ कड़क उठी, यह भीम-नाद से तड़क उठी।
भीषण-संगर की आग प्रबल, वैरी सेना में भड़क उठी॥
डग-डग डग-डग रण के डंके, मारू के साथ भयद बाजे।
टप-टप-टप घोड़े कूद पड़े, कट-कट मतंग के रद बाजे॥
कल-कल कर उठी मुगल-सेना, किलकार उठी, ललकार उठी।
असि म्यान विवर से निकल तुरत, अहि-नागिन-सी फुफकार उठी॥
शर-दण्ड चले, कोदण्ड चले, कर की कटारियाँ तरज उठीं।
खूनी बरछे-भाले चमके, पर्वत पर तोपें गरज उठीं॥
फर-फर-फर-फर-फर फहर उठा, अकबर का अभिमानी निशान।
बढ़ चला कटक लेकर अपार, मद-मस्त द्विरद पर मस्त-मान॥
कोलाहल पर कोलाहल सुन, शस्त्रों की सुन झनकार प्रबल।
मेवाड़-केसरी गरज उठा, सुनकर अरि की ललकार प्रबल॥
हर एकलिंग को माथ नवा, लोहा लेने चल पड़ा वीर।
चेतक का चंचल वेग देख, था महा-महा लज्जित समीर॥
लड़-लड़ कर अखिल महीतल को, शोणित से भर देने वाली।
तलवार वीर की तड़प उठी, अरि-कण्ठ कतर देने वाली॥
राणा का ओज भरा आनन, सूरज-समान चमचमा उठा।
बन महाकाल का महाकाल, भीषण-भाला दमदमा उठा॥

भेरी प्रताप की बजी तुरत, बज चले दमामे धमर-धमर।
धम-धम रण के बाजे बाजे, बज चले नगारे घमर-घमर॥
जय रुद्र बोलते रुद्र-सदृश, खेमों से निकले राजपूत।
झट झण्डे के नीचे आकर, जय प्रलयंकर बोले सपूत॥
अपने पैने हथियार लिये, पैनी - पैनी तलवार लिये।
आये खर-कुन्त-कटार लिये, जननी - सेवा का भार लिये॥
कुछ घोड़े पर कुछ हाथी पर कुछ योधा पैदल ही आये।
कुछ ले बरछे कुछ ले भाले कुछ शर से तरकस भर लाये॥
रण-यात्रा करते ही बोले, राणा की जय, राणा की जय।
मेवाड़-सिपाही बोल उठे, शतबार महाराणा की जय॥
हल्दीघाटी के रण की जय, राणा प्रताप के प्रण की जय।
जय-जय भारत माता की जय, मेवाड़-देश कण-कण की जय॥
हर एकलिङ्ग, हर एकलिङ्ग, बोला हर-हर अम्बर अनन्त।
हिल गया अचल, भर गया तुरत, हर-हर निनाद से दिग्दिगन्त॥
घनघोर घटा के बीच चमक, तड़-तड़ नभ पर तड़िता तड़की।
झन-झन असि की झनकार इधर, कायर-दल की छाती धड़की॥
अब देर न थी वैरी-वन में, दावानल के सम छूट पड़े।
इस तरह वीर झपटे उन पर, मानो हरि मृग पर टूट पड़े॥
मरने कटने की बान रही, पुश्तैनी इससे आह न की।
प्राणों की रंचक चाह न की, तोपों की भी परवाह न की॥
रण-मत्त लगे बढ़ने आगे, शिर काट-काट करवालों से।
संगर की मही लगी पटने, क्षण-क्षण अरि-कण्ठ-कपालों से॥

हाथी-सवार, हाथी पर थे, वाजी-सवार, वाजी पर थे।
पर उनके शोणित-मय मस्तक, अवनी-पर मृत-राजी पर थे॥
कर की असि ने आगे बढ़कर, संगर-मतंग-शिर काट दिया।
वाजी वक्षःस्थल गोभ-गोभ, बरछी ने भूतल पाट दिया॥
गज गिरा, मरा पिलवान गिरा, हय कट कर गिरा, निशान गिरा।
कोई लड़ता उत्तान गिरा, कोई लड़कर बलवान गिरा॥
झटके से शूल गिरा भू पर, बोला भट मेरा शूल कहाँ।
शोणित का नाला बह निकला, अवनी-अम्बर पर धूल कहाँ॥
आँखों में भाला भोंक दिया, लिपटे अन्धे जन अन्धों से।
शिर कट कर भू पर लोट गये, लड़ गये कबन्ध कबन्धों से॥
अरि-कुन्त घुसा झट उसे दबा, अपने सीने के पार किया।
इस तरह निकट वैरी-उर को; कर-कर कटार से फार दिया॥
कोई खरतर करवाल उठा, सेना पर बरसा आग गया।
गिर गया शीश कटकर भू पर, घोड़ा धड़ लेकर भाग गया॥
कोई करता था रक्त-वमन, छिद गया किसी मानव का तन।
कट गया किसी का एक बाहु, कोई था सायक-विद्ध नयन॥
गिर पड़ा पीन गज, फटी धरा, खर रक्त वेग से कटी धरा।
चोटी-दाढ़ी से पटी धरा, रण करने को भी घटी धरा॥
तो भी रख प्राण हथेली पर, वैरी-दल पर चढ़ते ही थे।
मरते कटते मिटते भी थे, पर राजपूत बढ़ते ही थे॥
राणा प्रताप का ताप तचा, अरि-दल में हाहाकार मचा।
भेड़ों की तरह भगे कहते, अल्लाह हमारी जान बचा॥

अपनी नंगी तलवारों से, वे आग रहे हैं उगल कहाँ।
वे कहाँ शेर की तरह लड़े, हम दीन सिपाही मुगल कहाँ॥
भयभीत परस्पर कहते थे, साहस के साथ भगो वीरो।
पीछे न फिरो, न मुड़ो, न कभी, अकबर के हाथ लगो वीरो॥
यह कहते मुगल भगे जाते, भीलों के तीर लगे जाते।
उठते जाते, गिरते जाते, बल खाते, रक्त पगे जाते॥
आगे थी अगम बनास नदी, वर्षा से उसकी प्रखर धार।
थी बुला रही उनको शत-शत, लहरों के कर से बार-बार॥
पहले सरिता को देख डरे, फिर कूद-कूद उस पार भगे।
कितने बह-बह इस पार लगे, कितने बह कर उस पार लगे॥
मँझधार तैरते थे कितने, कितने जल पी-पी ऊब मरे।
लहरों के कोड़े खा-खाकर, कितने पानी में डूब मरे॥
राणा-दल की ललकार देख, अपनी सेना की हार देख।
सातंक चकित रह गया मान, राणा प्रताप के वार देख॥
व्याकुल होकर वह बोल उठा, "लौटो-लौटो न भगो भागो।
मेवाड़ उड़ा दो तोप लगा, ठहरो-ठहरो फिर से जागो॥
देखो आगे बढ़ता हूँ मैं, वैरी-दल पर चढ़ता हूँ मैं।
ले लो करवाल बढ़ो आगे, अब विजय-मन्त्र पढ़ता हूँ मैं"॥
भगती सेना को रोक तुरत, लगवा दी भैरव-काय तोप।
उस राजपूत-कुल-घातक ने, हा, महाप्रलय-सा दिया रोप॥
फिर लगी बरसने आग सतत, उन भीम भयंकर तोपों से।
जल-जल कर राख लगे होने, योधा उन मुग़ल प्रकोपों से॥

भर रक्त-तलैया चली उधर, सेना-उर में भर शोक चला।
जननी-पद शोणित से धो-धो, हर राजपूत हर-लोक चला॥
क्षण-भर के लिये विजय दे दी, अकबर के दारुण दूतों को।
माता ने अंचल बिछा दिया, सोने के लिये सपूतों को॥
विकराल गरजती तोपों से, रूई-सी क्षण-क्षण धुनी गई।
उस महायज्ञ में आहुति-सी, राणा की सेना हुनी गई॥
बच गये शेष जो राजपूत, संगर से बदल-बदल कर रुख।
निरुपाय दीन कातर होकर, वे लगे देखने राणा-मुख॥
राणा-दल का यह प्रलय देख, भीषण भाला दमदमा उठा।
जल उठा वीर का रोम-रोम, लोहित आनन तमतमा उठा॥
वह क्रोध-वह्नि से जल-भुनकर, काली-कटाक्ष-सा ले कृपाण।
घायल नाहर-सा गरज उठा; क्षण-क्षण बिखेरता प्रखर बाण॥
बोला "आगे बढ़ चलो शेर, मत क्षण-भर भी अब करो देर।
क्या देख रहे हो मेरा मुख, तोपों के मुँह दो अभी फेर"॥
बढ़ चलने का सन्देश मिला, मर मिटने का उपदेश मिला।
"दो फेर तोप-मुख" राणा से, उन सिंहों को आदेश मिला॥
गिरते जाते, बढ़ते जाते, मरते जाते, चढ़ते जाते,
मिटते जाते, बढ़ते जाते, गिरते - मरते - मिटते जाते॥
बन गये वीर मतवाले थे, आगे वे बढ़ते चले गये।
राणा प्रताप की जय करते, तोपों तक चढ़ते चले गये॥
उन आग बरसती तोपों के, मुँह फेर अचानक टूट पड़े।
बैरी-सेना पर तड़प-तड़प-मानो शत-शत पवि छूट पड़े॥

फिर महा समर छिड़ गया तुरत, लोहू-लोहित हथियारों से।
फिर होने लगे प्रहार वार, बरछे-भाले-तलवारों से॥
शोणित से लथपथ ढालों से, करके कुन्तल करवालों से।
खर-छुरी-कटारी फालों से, भू भरी भयानक भालों से॥
गिरि की उन्नत चोटी से, पाषाण भील बरसाते।
अरि-दल के प्राण पखेरू, तन-पिंजर से उड़ जाते॥
कोदण्ड-चण्ड-रव करते, बैरी निहारते चोटी।
तब तक चोटी वालों ने, बिखरा दी बोटी-बोटी॥
अब इसी समर में चेतक, मारुत बनकर आयेगा।
राणा भी अपनी असि का, अब जौहर दिखलायेगा॥

* * *

पराकाष्ठा

पावस बीता पर्वत पर, नीलम घासें लहराईं।
कासों की श्वेत ध्वजाएँ, किसने आकर फहराईं॥
नव पारिजात-कलिका का मारुत आलिङ्गन करता।
कम्पित-तन मुसकाती है, वह सुरभि-प्यार ले बहता॥
कर स्नान नियति-रमणी ने, नव हरित वसन है पहना।
किससे मिलने को तन में, झिलमिल तारों का गहना॥
पर्वत पर, अवनीतल पर, तरु-तरु के नीलम दल पर।
यह किसका बिछा रजत-तट, सागर के वक्षःस्थल पर॥
वह किसका हृदय निकल कर, नीरव नभ पर मुसकाता?
वह कौन सुधा वसुधा पर, रिमझिम-रिमझिम बरसाता॥
तारक मोती का गजरा, है कौन उसे पहनाता?
नभ के सुकुमार हृदय पर, वह किसको कौन रिझाता॥
पूजा के लिये किसी की, क्या नभ-सर कमल खिलाता?
गुदगुदा सतो रजनी को, वह कौन छली इतराता॥
वह झूम-झूम कर किसको, नव नीरव गान सुनाता?
क्या शशि तारक मोती से, नभ नीलम थाल सजाता॥
जब से शशि को पहरे पर, दिनकर सो गया जगा कर।
कविता-सी कौन छिपी है, यह ओढ़ रुपहली चादर॥
क्या चाँदी की डोरी से, वह नाप रहा है दूरी?
या शेष जगह भू-नभ की, करता ज्योत्स्ना से पूरी॥

इस उजियाली में जिसमें, हँसता है कलित-कलाधर।
है कौन खोजता किसको, जुगनू के दीप जलाकर॥
लहरों के मृदु अधरों का, विधु झुक-झुक करता चुम्बन।
घुल कोई के प्राणों में, वह बना रहा जग निधुवन॥
घूँघट पट खोल शशी से, हँसती है कुमुद किशोरी।
छवि देख-देख बलि जाती, बेसुध अनिमेष चकोरी॥
इन दूबों के टुनगों पर, किसने मोती बिखराये?
या तारे नील-गगन से, स्वच्छन्द विचरने आये॥
या बँधी हुई हैं अरि की, जिसके कर में हथकड़ियाँ।
उस पराधीन जननी की, बिखरी आँसू की लड़ियाँ॥
इस स्मृति से ही राणा के, उर की कलियाँ मुरझाईं।
मेवाड़-भूमि को देखा, उसकी आँखें भर आईं॥
अब समझा साधु सुधाकर, कर से सुहला सुहलाकर।
दुर्दिन में मिटा रहा है, उर-ताप सुधा बरसाकर॥
जननी-रक्षा-हित जितने, मेरे रणधीर मरे हैं।
वे ही विस्तृत अम्बर पर, तारों के मिस बिखरे हैं॥
मानव-गौरव-हित मैंने, उन्मत्त लड़ाई छेड़ी।
अब पड़ी हुई है माँ के, पैरों में अरि के बेड़ी॥
पर हाँ, जब तक हाथों में, मेरी तलवार बनी है।
सीने में घुस जाने को, भाले की तीव्र अनी है॥
जब तक नस में शोणित है, श्वासों का ताना-बाना।
तब तक अरि-दीप बुझाना, है बन-बन कर परवाना॥

घासों की रूखी रोटी, जब तक सोते का पानी।
तब तक जननी-हित होगी, कुर्बानी पर कुर्बानी॥
राणा ने विधु तारों को, अपना प्रण-गान सुनाया।
उसके उस गान-वचन को, गिरि-कण-कण ने दुहराया॥
इतने में अचल-गुहा से, शिशु-क्रन्दन की ध्वनि आई।
कन्या के क्रन्दन में थी, करुणा की व्यथा समाई॥
उसमें कारागृह से थी, जननी की अचिर रिहाई।
या उसमें थी राणा से, माँ की चिर, छिपी जुदाई॥
भालों से, तलवारों से, बरछों से बौछारों से।
जिसका न हृदय चंचल था, वैरी-दल-ललकारों से॥
दो दिन पर मिलती रोटी, वह भी तृण की घासों की।
कंकड़-पत्थर की शय्या, परवाह न आवासों की॥
लाशों पर लाशें देखीं, घायल कराहते देखे।
अपनी आँखों से अरि को, निज दुर्ग ढाहते देखे॥
तो भी उस वीर-व्रती का, था अचल हिमाचल-सा मन।
पर हिम-सा पिघल गया वह, सुनकर कन्या का क्रन्दन॥
आँसू की पावन गंगा, आँखों से झर-झर निकली।
नयनों के पथ से पीड़ा, सरिता-सी बहकर निकली॥
भूखे - प्यासे - कुम्हलाये, शिशु को गोदी में लेकर।
पूछा, "तुम क्यों रोती हो, करुणा को करुणा देकर"
अपनी तुतली भाषा में, वह सिसक-सिसक कर बोली।
जलती थी भूख तृषा की, उसके अन्तर में होली॥

'हा, छहो न जातो मुझछे, अब आज भूख की ज्वाला ।
कल छे ही प्यास लगी है, होलहा हिदय मतवाला ॥
माँ ने घाछों की लोती, मुझको दी थी खाने को ।
छोते का पानी देकल, वह बोली भग जाने को ॥
अम्मा छे दूल यहीं पल, छूखी लोती खाती थी ।
जो पहले छुना चुकी हूँ, वह देछ-गीत गाती थी ॥
छच कहती केवल मैंने, एकाध कवल खाया था ।
तब तक बिलाव ले भागा, जो इछीलिये आया था ॥
छुनती हूँ तू लाजा है, मैं प्याली छौनी तेली ।
क्या दया न तुझको आतो, यह दछा देख कल मेलो ॥
लोती थी तो दता था खाने को मुझे मिथाई ।
अब खाने को लोती तो, आती क्यों तुझे लुलाई ॥
वह कौन छत्रु है जिछने, छेना का नाछ किया है ?
तुझको, माँ को, हम छबको, जिछने बनबाछ दिया है ॥
यह छोती छी पोती छी, तलवाल मुझे भी दे दे ।
मैं उछको माल भगाऊँ, छन मुझको लन कलने दे ॥'
कन्या की बातें सुनकर, रो पड़ीं अचानक रानी ।
राणा की आँखों से भी अविरल बहता था पानी ॥
उस निर्जन में बच्चों ने, माँ-माँ कह-कह कर रोया ।
लघु-शिशु-विलाप सुन-सुनकर, धीरज ने धीरज खोया ॥
वह स्वतन्त्रता कैसी है, वह कैसी है आज़ादी ।
जिसके पद पर बच्चों ने, अपनी मुक्ता बिखरा दी ॥

सहने की सीमा होती, सह सका न पीड़ा अन्तर।
हा, सन्धि-पत्र लिखने को, वह बैठ गया आसन पर॥
कह 'सावधान' रानी ने, राणा का थाम लिया कर।
बोली अधीर पति से वह, कागद मसि-पात्र छिपा कर॥
"तू भारत का गौरव है, तू जननी-सेवा-रत है।
सच कोई मुझसे पूछे, तो तू ही तू भारत है॥
तू प्राण सनातन का है, मानवता का जीवन है।
तू सतियों का अंचल है, तू पावनता का धन है॥
यदि तू ही कायर बनकर, वैरी से सन्धि करेगा।
तो कौन भला भारत का—बोझा माथे पर लेगा।
लुट गये लाल गोदी के, तेरे अनुगामी होकर।
कितनी विधवाएँ रोतीं, अपने प्रियतम को खोकर॥
आज़ादी का लालच दे, झाला का प्रान लिया है।
चेतक-सा वाजि गँवा कर, पूरा अरमान किया है॥
तू सन्धि-पत्र लिखने का, कह कितना है अधिकारी?
जब बन्दी माँ के दृग से, अब तक आँसू है जारी॥
थक गया समर से तो अब, रक्षा का भार मुझे दे।
मैं चण्डी-सी बन जाऊँ, अपनी तलवार मुझे दे॥
मधुमय कटु बातें सुन कर, देखा ऊपर अकुला कर।
कायरता पर हँसता था, तारों के साथ निशाकर॥
झाला सम्मुख मुसकाता, चेतक धिक्कार रहा है।
असि चाह रही कन्या भी, तू आँसू ढार रहा है॥

मर मिटे वीर जितने थे, वे एक-एक कर आते।
रानी की जय-जय करते, उससे हैं आँख चुराते॥

हो उठा विकल उर-नभ का, हट गया मोह-घन काला।
देखा वह ही रानी है, वह ही अपनी तृण शाला॥

बोला वह अपने कर में, रमणी-कर थाम "क्षमा कर।
हो गया निहाल जगत् में, मैं तुझ-सी रानी पाकर"॥

इतने में वैरी-सेना ने, राणा को घेर लिया आकर।
पर्वत पर हाहाकार मचा, तलवार झनकी बल खाकर॥

तब तक आये रणधीर भील, अपने कर में हथियार लिये।
पा उनकी मदद छिपा राणा, अपना भूखा परिवार लिये॥

* * *

रा म कुमा र व र्मा

परिचय

जन्म सं० १६६२

रामकुमार वर्मा का जन्म मध्यप्रदेश के सागर ज़िले में हुआ था। इनके पिता श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद एक ऊँचे सरकारी पद पर प्रतिष्ठित थे। इन्होंने एम० ए० में हिन्दी लेकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास की और फिर इसी विश्वविद्यालय में ही लेक्चरार के पद पर नियुक्त हो गये और आजकल इसी पद को सुशोभित कर रहे हैं।

वर्मा जी कवि होने के साथ ही उच्च कोटि के विद्वान भी हैं। इनका अंग्रेज़ी, संस्कृत और हिन्दी साहित्य में पूर्ण अधिकार है। रचना इनकी नवीन कोटि की है, किन्तु दूसरे कवियों की भाँति उतनी अस्पष्ट नहीं। भाषा संस्कृतमयी होकर भी सरल और सीधी है। कविता में अनुभूति और भावना प्रधान है। ये संसार की प्रत्येक वस्तु असार और क्षणभङ्गुर समझते हैं। इन्होंने कुछ प्रेम के गीत भी गाये हैं किन्तु उनमें भी नैराश्य और वेदना के दर्शन होते हैं। इतना होने पर ये सौन्दर्य के उपासक भी ज़रूर हैं। इनका सौन्दर्य का वर्णन भी अनूठा है।

इनकी कविताओं में एक क्रमिक विकास दीख पड़ता है। 'वीर-हमीर' 'कुल-ललना' 'चित्तौड़ की चिता' 'रूप-राशि' 'शुजा' तथा 'निशीथ' इनके इतिवृत्तात्मक काव्य हैं। इनमें से पहली तीन रचनाएं प्राथमिक काल की हैं। 'चित्ररेखा' और 'चन्द्र-किरण' इनकी रहस्यवादपूर्ण स्फुट कविताओं के संग्रह हैं। 'चित्ररेखा' पर इन्हें दो हजार का देव-पुरस्कार भी मिल चुका है। 'अंजलि' और 'अभिशाप' सुन्दर मुक्तक और गीतिकाव्य हैं।

निर्झर

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !
इस एकान्त प्रान्त-प्राङ्गण में
किसे सुनाते सुमधुर स्वर ?
अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !

अपना ऊँचा स्थान त्याग कर,
क्यों करते हो अधःपतन ?
कौन तुम्हारा वह प्रेमी है,
जिसे खोजते हो वन - वन ?
विरह - व्यथा में अश्रु बहा कर,
जलमय कर डाला सब तन !
क्या धोने को चले स्वयं,
अविदित प्रेमी के पद-रज-कन ?
छोटे पत्थर
लघु पाषाणों के टुकड़े भी,
तुमको देते हैं ठोकर !
क्षण-भर ही विचलित होकर,
कम्पित होते हो गति खोकर ।
लघु लहरों के कम्पित कर से,
करते उत्सुक आलिंगन ।
कौन तुम्हें पथ बतलाता है,
मौन खड़े हैं सब तरुगन ?
अविचल चल, जल का छल-छल,
गिरि पर गिर-गिर कर कल-कल स्वर ।

पल-पल में प्रेमी के मन में।
गूँजे ए कातर निर्झर!

* * *

ओ समीर

ओ समीर, प्रातः समीर!
मेरे पल्लव सोते हैं,
टूटे न शान्त स्वप्नों का तार।
या तो धीरे-से आओ,
या रहो दूर, देखो उस पार॥
सरल सुमन-शिशुओं ने तेरी,
आहट से दीं आँखें खोल।
यह सौन्दर्य-सुधा छलकाकर,
घटा दिया क्यों उसका मोल?
ओ समीर, निष्ठुर समीर!
कलियों को मत छुओ,
बालिकाएँ हैं, सरला हैं, अनजान।
गाना मत उनके समीप,
उन्मत्त अरे, यौवन के गान॥
असम तुम्हारा है प्रवाह,
ध्वनि-पद से करते व्योम-विहार।
या तो धीरे से आओ,
या रहो दूर देखो उस पार॥
ओ समीर, मादक समीर!

किसका शिशुपन चुरा चुराकर,
भरते हो ओसों में आज ?
किसकी लाली छीन कर रहे,
उषा-प्रेयसी का यह साज ?
अरे, एक झोंके में ही क्यों,
उड़ा दिये सब तारक-फूल ।
मेरे स्वप्नों में क्यों भर दी,
मेरे जागृतपन की धूल ?
ओ समीर, पागल समीर !

* * *

जीर्णगृह

लिए कितनी स्मृतियों का कोष
भिखारी-सा जर्जर तन भार,
खड़े हो ओ मेरे गृह आज !
किसे करने को भूला प्यार ?
सुलाए कितने वर्ष अतीत
गोद में खड़े हुए दिन रात,
बुलाये वातायन से नित्य
झाँकने वाले बाल-प्रभात ।
रात की काली चादर ओढ़
निकलते थे तारे चुपचाप,

देखते थे वे चारों ओर
भयानक अन्धकार का रूप।
देखते थे तुम भी उस काल
हृदय में कर सुस्नेह प्रकाश,
दीप्तिमय छिद्र-नेत्र से अचल
उन्हीं नक्षत्रों का आकाश।
तुम्हारे लघु छिद्रों के नैन
जानता था कब मैं उस काल,
प्रकाशित होंगे कभी न हाय!
उठेंगे जब यह तारे-बाल।
एक छाया ही का आतङ्क
बढ़ेगा तुम पर ऐसा आह!
निकल जावेगा तुम पर मूक
रात्रि-दिन का अविराम प्रवाह।
आह, वे स्मृतियाँ कितना उग्र,
कहाँ हैं, कहाँ, कहाँ, किस ओर!
यहाँ कैसा था रजनी काल,
और कैसा तम था, उफ़, घोर!
और मेरी माँ का संसार
हिल रहा था जब पल प्रति पल,
नेत्र की उज्ज्वलता में सिमिट—
गया था अन्धकार अविचल।
आँख की पुतली पल में कभी
भूल जाती थी अपनी चाल,

देखते थे उसको चुपचाप
प्यार के पाले भोले बाल।
शुष्क ओठों का अविदित बोल
चुरा ले गई पापिनी वायु,
ओस की बूँदों-सी उड़ चली
फूल से तन में बैठी आयु।
आँख धीरे धीरे थी खुली
दृष्टि निर्बल पहुँची सब ओर,
और पुतली ने धीरे छुआ
बुझी आँखों का सूखा छोर।
उसी क्षण उज्ज्वल दीप-प्रकाश
हो गया पल-पल अधिक मलीन,
अन्त में सन्ध्या-सा बन कहीं
हो गया अन्धकार में लीन।
आज भी वह स्मृति ले चुपचाप
रखे हो अपना अवनत भार,
यही तो है जीवन की हार
यही तो दो दिन का संसार
यही तो दो दिन का संसार
खिलाता है कितने ही फूल,
और दो दिन के भूखे भ्रमर
झूलते हैं अपनापन भूल।
तुम्हारा सुन्दर उपवन और
तुम्हारा सुन्दर रूप विशाल,

आज है देख रहा संसार
तुम्हें रोगी का नत कङ्काल।
वायु आकर छू जाता शीघ्र
देखते हो तुम उसका व्यङ्ग,
कभी सौरभ भारों से थका
सदा लिपटा रहता था अङ्ग;
बने हो अब अतीत के विन्दु
बने हो अवनी पर निरुपाय,
बने स्थिर, सकरुण स्वप्नाकार
लिए अपना अविदित अभिप्राय।
न गिरना, मत गिरना ए सुनो!
सुरक्षित रखना अपना द्वार,
कभी आऊँगा फिर इस ओर
आँख में भर आँसू दो चार।

* * *

रामनरेश त्रिपाठी

परिचय

जन्म संवत् १९४६

त्रिपाठीजी का जन्म संयुक्तप्रान्त के जौनपुर जिले में कोइरीपुर में हुआ था। आप हिन्दी के पण्डित, सुकवि, सुलेखक तथा काव्य-कला के मर्मज्ञ हैं और उर्दू, गुजराती, अंग्रेजी और संस्कृत के अच्छे जानकार। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बहुत काल तक मन्त्री भी रह चुके हैं। बालकों और नवयुवकों के लिए आपने बहुत सुन्दर साहित्य की सृष्टि की है। 'मिलन' 'पथिक' और 'स्वप्न' आपकी राष्ट्रीय भावों से भरी हुई रचनाएं हैं। हिन्दी साहित्य में इन सब का खूब मान हुआ। 'मानसी' आपकी फुटकर रचनाओं का संग्रह है। प्रकृति का चित्र उतारने में आपने अच्छी सफलता प्राप्त की है। 'कविता-कौमुदी' के भिन्न-भिन्न भागों में जो आपने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बङ्गला आदि की कविताओं का सुन्दर चयन किया है, उससे हिन्दी साहित्य की खूब समृद्धि हुई है। 'ग्रामगीत' के नाम से जो ग्राम्य कविताओं का संग्रह प्रस्तुत किया गया है वह भी आदर की वस्तु है। अभी आप का इस दिशा में परिश्रम जारी है, 'रामचरितमानस की टीका' 'तुलसीदास और उनकी कविता' 'हिन्दी-शब्द कल्पद्रुम' 'जयंत' आदि भी आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

अन्वेषण

मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और बन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी को मुझ को पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में।
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू,
आँखें लगी थीं मेरी तब मान और धन में।
बाजे बजा बजा के मैं था तुझे रिझाता,
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में।
मैं था विरक्त तुझ से जग की अनित्यता पर,
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में।
बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरण में।
तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं,
तू कर्म में मगन था मैं व्यस्त था कथन में।
तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था,
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में।
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तू ही,
तू अन्त में हँसा था महमूद के रुदन में।
प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना,
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में।

आखिर चमक पड़ा था गांधी की हड्डियों में,
मैं था तुझे समझता सुहराब पीलतन में।
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस कदर है,
हैरान होके भगवन् आया हूँ मैं शरण में।
तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में।
हे दीनबंधु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू,
देखूँ तुझे दृगों में मन में तथा वचन में।
कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है,
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में।
दुख में न हार मानूं सुख में तुझे न भूलूं,
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में।

Eyes

Eyes.

* * *

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द

परिचय

जन्म संवत् १९६४

मिलिन्दजी का जन्म ग्वालियर रियासत के मुरार नामक गाँव में हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा प्रायः राष्ट्रीय विद्यालयों में ही हुई। काशी विद्यापीठ के ये स्नातक हैं। भारत की कई भाषाओं में इनकी गति है। साल भर शान्तिनिकेतन में अध्यापन-कार्य कर चुके हैं। यों तो ये १४ वर्ष की आयु से ही कविता करने लगे थे किन्तु शान्तिनिकेतन का वातावरण पाकर इनकी कविता सचमुच की कविता हो गई, उसमें कविता-उपयोगी पूर्ण विकास आ गया।

मिलिन्दजी प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक हैं। उनका प्रकृति-निरीक्षण ऊँचा है, कल्पना उर्वरा है, उसका बल पाकर प्रेम और करुणा के चित्रों में जान आ गई है। कुल मिला कर इनकी कविता आध्यात्मिक कोटि की है, जिसका सम्बन्ध हृदय के साथ होता है। उनमें उन्माद भरा है और मीठा उन्माद।

'पँखुरियां' 'जीवन-संगीत' और 'नवयुग के गान' इनकी कविताओं के उत्तम संग्रह हैं और 'प्रताप-प्रतिज्ञा' सुन्दर नाटक।

यौवन

यौवन कहते हैं उसको, जो वंशी के स्वर-सा एकाकी—
अपनी उमंग पर नभ-भू के अंतर का करने माप चले;
जिसका उत्थान हिमालय से होड़ाहोड़ी करने निकले,
जो गिरते-गिरते भी, प्रपात से अपनी गुरुता नाप चले।
जो पुष्पों-सा छाती छिदवा स्नेही के उर का हार बने,
फिर प्रेम पंथ की रज में मिल सार्थक निज उपसंहार करे;
पर, स्वत्वहरण पर अबलों के, सबलोंको अभय चुनौती दे,
जग का नूतन इतिहास बनाने वाली रण-हुंकार करे।
यौवन कहते हैं उसे, सिंधु की लहरें करे नियंत्रित जो,
नक्षत्रों की पलकें झपकें, जिसके तेजस्वी इंगित पर;
जो गिने युगों को निमिषों में, अस्थियाँ बदल दे वज्रों में,
शब्दों में जिसके संजीवन, श्वासों में जिसके प्राण अमर।
जो जननी का अभिमान बने, भगिनी का गौरव गान बने,
अविचल विश्वास बने पत्नी का, युग का नव निर्माण करे;
ममता का बंधन तोड़ सके, फिर टूटा बंधन जोड़ सके,
सीमा के बाहर मिलन विरह की, पथ का अनुसंधान करे।
यौवन कहते हैं उसको, जो अपना मस्तक कर पर रखकर,
पीड़ित मनुजों के मस्तक पर कर रखकर रक्षा-दान करे;
जो अंतिम क्षण तक, शोणित का अंतिम कण तक, उत्सर्ग करे,
जो महाप्रलय के बाद सृजन-वीणा पर फिर नव-गान करे।
'सुन्दरता' की जिस पर श्रद्धा, 'वैभव' जिसके चरणों में नत,
हो 'शक्ति, भक्त जिसकी, जिसपर हो मुग्ध 'प्रशंसा' का तन मन

जो इन चारों से ऊँचा हो, जो इन चारों से मुक्त रहे,
कवि के स्वप्नों की साध वही, कवि का आराध्य वही यौवन।

* * *

क्रान्तिकारी

पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।
नीड़ों में जैसे पत्ती हैं बस जाते,
उनकी सीमा में अपने शिशु दुलराते,
वैसे ही हम थे अपनी कुटी बसाते;
नंदन-वन-सा सुख हम भी उसमें पाते,
बरसाते उसमें स्नेह हृदय का निश्छल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

हमने भी आहों का बंधन पहचाना,
आँसू को अपना परिचित हमने जाना,
मुसकानों पर सीखा सर्वस्व लुटाना,
आशा-इंगित पर स्वप्न भवन बनवाना।
सुख में, दुख में हम भी थे मानव केवल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

क्षण में न हमारा बदल सका है जीवन,
क्षण में न हुआ हम में इतना परिवर्तन
हम भी अपना रखते इतिहास सुविस्तृत,
हम भी रखते अपना विकास क्रम-आगत।
है एक कहानी इस जीवन का प्रति-पल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

बन गया हृदय ही अपना शत्रु हमारा;
सह सका न वह दुखियों की आँसू-धारा।
नंगों-भूखों को देख तड़पते-रोते,
अपने श्रम का फल निपराध सब खोते,
हो उठा हमारा भावुक अंतर चंचल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

युग-युग की पीड़ित मानवता के मन की
अवरुद्ध आह संचित सारे जीवन की,
हम में ममत्व का पाकर एक सहारा,
थी फूट पड़ी बन निश्चय उग्र हमारा।
हम निकल पड़े ले प्रबल प्रेरणा का बल
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

कितना दुर्गम, कितना विस्तृत वह पथ था!
'इति' ज्ञात नहीं था, जाना केवल 'अथ' था!
हमने प्राणों पर खेल किया निश्चय था;
इसलिए मरण का हमें न कोई भय था।
स्वातंत्र्य, साम्य के मद में थे हम पागल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

हम एक नए जीवन-प्रभात में जागे;
अपने सुख-दुख को कुचल बढ़े हम आगे।
अपने यौवन में आग लगाना सीखे;
अपनी हस्ती को स्वयं मिटाना सीखे।
था सर्वनाश ही बना पंथ का संबल
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

कितने कटु अनुभव पद-पद पर होते थे !
कितने साथी जीवन अपना खोते थे।
विश्वासघात कितने करते अपने बन ;
कितने करते थे आमिष पर आत्मार्पण !
जीवन में प्रतिपल रहती अद्भुत हलचल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

प्रतिपल संमुख रहती थी मृत्यु हमारे ;
शंकित फिरते हम वन-वन मारे-मारे।
फिर भी न शिथिल उत्साह कभी था होता ;
मन भीषण संकट में भी धैर्य न खोता ;
हिमगिरि से सीखा उसने रहना अविचल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

'मरने वालो, तुम मरो, तुम्हें है मरना ;
हम जीते तो हैं, और हम क्या करना !'—
यह उदासीनता देखी उस जन-गण की,
हम मुक्ति चाहते थे जिसके जीवन की।
हम सह यह भी आघात, दिए आगे चल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

घर की सुध क्या हमको कभी न आती थी ?
क्या भूख प्यास निद्रा न सता पाती थी ?
था, किंतु गुलामी का कंटक भीषण तर,
था सहना जिसका कठिन किसी कीमत पर।
कष्टों से हमने भरा खुशी से अंचल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

राखी आई, पर रही कलाई सूनी ;
विजया पर व्यथा विफलता की थी दूनी।
दीपावलि आई होली का दिन आया,
पर, जीवन में हमने उल्लास न पाया।
बीते कितने मधुमास, न कूकी कोयल !
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

थोड़े से साथी, सीमित सब साधन थे,
प्रतिकूल परिस्थिति, पद-पद पर बंधन थे।
हम महा शक्तियों को चुनौतियाँ देकर
थे नई व्यवस्था चाह रहे इस भू पर।
सिर पर विपदा के छाए कितने बादल
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

फिर भी, उसका कुछ किया प्रदर्शन हमने,
जिस तीव्र व्यथा का पाया दर्शन हमने,
जिसमें मानवता घुट-घुट कर मरती थी,
जिसको शोषण में मूक सहन करती थी।
संदेश सुनाया बहरे जग को अविरल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

पर, इतने श्रम के बाद बात यह जानी—
था विफल यत्न वह भ्रांत, व्यर्थ कुरबानी !
फिर नए सिरे से नए मार्ग पर चलना,
जीवन- प्रदीप को है तिल-तिल कर जलना।
पथ बदल गया, पर लक्ष्य वही है उज्ज्वल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

गुमराह कहें चाहे फिर हमको ज्ञानी,
ठुकरावें हमको आत्म-तत्व अभिमानी,
सर-आँखों पर है उन सबकी मनमानी,
कहते हम इतना नयनों में भर पानी।
रखते हैं हम भी एक हृदय लघु निर्मल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

* * *

सुभद्राकुमारी चौहान

परिचय

जन्म संवत् १९६१

सुभद्राकुमारीजी के पिता का नाम ठाकुर रामनाथसिंह था। ठाकुर साहब भजन गाने के बड़े प्रेमी थे। आपको गाते देखकर सुभद्राकुमारी जी भी बचपन में गुनगुनाने लगती थीं। एक दिन केवल ६-७ वर्ष की आयु में ही आपने एक छोटी सी तुकबन्दी अनायास रच डाली, जिसे देखकर सबको आश्चर्य हुआ। खँडवा निवासी ठा०लक्ष्मणसिंहजी वकील के साथ आपका विवाह हुआ। उसके बाद भी आपका अध्ययन जारी रहा। असहयोग-आन्दोलन के समय आपने स्वयं भी स्कूल छोड़ दिया और पति को भी वकालत छोड़ने के लिये प्रेरित किया। non coporation

राजनीतिक आन्दोलन के शिथिल हो जाने पर आप साहित्य-चर्चा में लगीं। आपकी रुचि कविता की ओर थी। इसीलिये आप राष्ट्रीय समाचार-पत्रों में कविताएं बराबर लिखती रहीं। आपका प्रिय विषय 'स्वदेश' रहा है। इसलिये राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत आपकी अनेक कविताएं बड़ी मार्के की निकली हैं। आपकी 'झांसी की रानी' नामक रचना हिन्दी-काव्य-जगत में विशेष विख्यात हो चुकी है।

आपकी उत्कृष्ट कविताओं का एक संग्रह 'मुकुल' नाम से भी प्रकाशित हो चुका है, जिस पर 'सेकसरिया' पुरस्कार आपको मिला है। आजकल आप जबलपुर में रहती हैं।

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

आ रही हिमांचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,

सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त !

फूली सरसों ने दिया रंग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग,
वधु-वसुधा पुलकित अंग-अंग,

हैं वीर वेश में किन्तु कंत,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रंग और रण का विधान,

मिलने आए हैं आदि-अंत।
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

गलबाहें हों, या हो कृपाण,
चल-चितवन हो या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,

अब यही समस्या है दुरंत,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके ! तुझमें क्यों लगी आग,
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,

बतला अपने अनुभव अनंत,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

हल्दी घाटी के शिला-खंड,
ऐ दुर्ग ! सिंह-गढ़ के प्रचंड,
राणा, ताना का कर घमंड,

दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलंत,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी, स्वच्छन्द नहीं,

फिर हमें बतावे कौन ? हंत !
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

* * *

झांसी की रानी की समाधि पर

इस समाधि में छिपी हुई है
एक राख की ढेरी ।
जलकर जिसने स्वतन्त्रता की
दिव्य आरती फेरी ॥

यह समाधि, यह लघु समाधि, है
झाँसी की रानी की ।
अन्तिम लीलास्थली यही है
लक्ष्मी मरदानी की ॥

यहीं कहीं पर बिखर गई वह
भग्न विजय-माला-सी ।
उसके फूल यहाँ सञ्चित हैं
है यह स्मृति-शाला-सी ॥

सहे वार पर वार अन्त तक
लड़ी वीर बाला-सी ।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर
चमक उठी ज्वाला-सी ॥

बढ़ जाता है मान वीर का
रण में बलि होने से ।
मूल्यवती होती सोने की
भस्म यथा सोने से ॥

रानी से भी अधिक हमें अब
यह समाधि है प्यारी ।

यहाँ निहित है स्वतन्त्रता की
आशा की चिनगारी ।
इससे भी सुन्दर समाधियाँ
इस जग में हैं पाते
उनकी गाथा पर निशीथ में
क्षुद्र जन्तु ही गाते ॥
पर कवियों की अमर गिरा में
इसकी अमिट कहानी ।
स्नेह और श्रद्धा से गाती
है वीरों की बानी ॥
बुन्देले हर बोलों के मुख
हमने सुनी कहानी ।
खूब लड़ी मरदानी वह थी
झाँसी वाली रानी ॥
यह समाधि, यह चिर समाधि
है झाँसी की रानी की ।
अन्तिम लीला-स्थली यही है
लक्ष्मी मरदानी की ॥

* * *

श्री आरसी प्रसाद सिंह

परिचय

जन्म संवत् १९६८

आप विहार के सुप्रसिद्ध कवि एवं कहानीकार हैं। आप का जन्म विहार के दरभंगा जिले में हुआ। आपकी प्रतिभा बहु-मुखी है। 'संचयिता' और 'आरसी' नामक आपके दो विशाल-काय कवितासंग्रहों में अनेक भावों की विविध व्यंजना से युक्त विभिन्न शैलियों की रचनाएं अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

इनके अतिरिक्त 'पंचपल्लव' 'खोटा सिक्का' आदि अनेक कविता एवं कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपके खंड-काव्य भी परम मनोहर बन पड़े हैं।

ताण्डव

अर्द्ध-संध्या के धूमाच्छन्न
व्योम-प्रान्तर में आत्म-विभोर;
रक्त-रञ्जित, तम-व्यञ्जित, तोम
घनों के अन्तराल में घोर;—

कौन तुम उतर आज चुपचाप,
नृत्य करते हो बन अभिशाप?
काल का कोप, तरणि का ताप!

निखरती है ललाट से एक
कोटि दिनकर-सी ज्योति अखण्ड;
सँजोता सर्वनाश के दिवस
'डिमिक' डमरू का नाद प्रचण्ड!

अरुण यौवन का तरुण विहार
जगा देता विप्लव—शृङ्गार;
छेड़ उर के स्वप्निल उद्गार!

खिसकती धरा शून्य की ओर:
असह हो रहा पदों का भार!
देख शूली का विप्लव-नृत्य
कराहे आज भीरु संसार!

जरा—तन्द्रिल वसुधा को बोर
बालियों की झंकार कठोर;
मिला देती भू-नभ के छोर!

चमक चपला - सी, चंचल, उग्र;
वक्ष पर पड़ी कराल, विशाल,
प्रलय की कर चिर-नूतन सृष्टि
डोलती नर-मुण्डों की माल !

हृदय में छाई विपुल उमंग !
हलाहल - नीलग्रीव, प्रत्यङ्ग !
आज रे कुंठित मदन उलङ्ग !

वज्र - सा उर को भेद अभेद
गूँजता खर शृङ्गी - रव-रोर;
शून्य में फैला बाहु उदण्ड
नाचता मृत्युञ्जयी अघोर !

अगम मानस निर्मल, अविकार !
निःस्व जग को निर्मोह उजाड़
क्षार कर रहा आज अनुदार !

मोम के दीपक - सा सुकुमार
पतित हो भू पर, बन हिम-बिन्दु
तुम्हारे प्रखर तेज से आह,
वक्र हो गया पिघल कर इन्दु !

त्रिकट वर-व्यालों की फुफकार
खोलती महामृत्यु का द्वार !
मचाती दारुण हाहाकार !

तुम्हारा रूप भयानक देख
अचानक छिपता विश्व सभीत;

और, भय खाता काल कठोर!
अरे, यह कटि-प्रदेश में पती—

सुशोभित बाघम्बर विकराल!
गले में रुद्राक्षों की माल!
और, ये नयन तुम्हारे लाल!

तुम्हारा एक - एक हुंकार
कायरों के हर लेता प्राण;
तुम्हारा एक - एक भ्रूभङ्ग
विश्व - दीपक करता निर्वाण!

तुम्हारा यह विद्रूप स्वरूप,
युगान्तर का प्रतिबिम्ब अनूप;
शवों से भरता कुम्भी - कूप!

निरख कर अंगारों - से नेत्र
नीच जग लोचन लेता मीच;
प्रलापों का उद्दाम प्रवाह
मचाता हलचल जग के बीच!

ऊर्द्ध्व-शिख, विभव-विभाग त्रिभंग,
कंठ-भुज भूषित, अमित भुजंग!
वारुणी का अधरों पर रंग!

तुम्हारे अन्तर का उद्वेग;
और, यह मन्द-मन्द मृदु हास!
तुम्हारा यह विक्षिप्त विलास!
चतुर्दिक करता सत्यानाश!

विलसती मुख पर लोहित कान्ति,
क्रान्ति-सी वह विक्षुब्ध अशान्ति!
आह, भावों की भीषण भ्रान्ति!

धधकती वह्नि-शिखा विकराल
तुम्हारे मुख पर मानों, घोर;
जाह्नवी की मस्तक पर श्वेत
राजती मत्त अकूल हिलोर!

भस्म - गजचर्मावेष्ट - शरीर:
रुक्ष बालों की जटा अधीर!
अरे, ओ प्रलयङ्कर - रणवीर!

तुम्हारी जलती साँस - उसाँस
उगलती महा - हुताशन - ज्वाल;
तुम्हारा यह अकाण्ड करताल
लूटता कितनी माँ के लाल!

नाच रे, नाच सदाशिव आज;
नाच सह-पार्श्वद, साज-समाज!
अहे वैतालिक, हे नटराज!
तुम्हारा ही ताण्डव - नर्तन;
प्रलय का है पट-परिवर्तन!
सृष्टि का नूतन आवर्तन!

* * *

सुधीन्द्र

परिचय

जन्म सं १९७३

कवि सुधीन्द्र का जन्म कोटा (राजस्थान) के अन्तर्गत खैराबाद ग्राममें हुआ था। आपके पिता सौरिख जिला फ़र्रुख़ाबाद (यु. प्रांत) से इधर आ बसे थे। शिक्षा-दीक्षा इनकी कोटा में हुई।

१९३७ ई० से आप राजस्थान के जन-सेवक पं० हरिभाऊ उपाध्याय के सहयोगी के रूप में गांधी आश्रम, हटूँडी (अजमेर) में रहकर लोक-सेवा का कार्य करते रहे। १९४० में जब 'जीवन-साहित्य' (दिल्ली) मासिक पत्र का प्रकाशन हुआ तो आप उसमें उपाध्याय जी के सहकारी थे।

काव्य-रचना की प्रवृत्ति आप में बाल्यकाल से ही थी। जब आप दूसरी कक्षा के छात्र थे तभी आपने सूर की भाँति जननी जन्मभूमि के प्रति कुछ पद लिखे थे जिनमें स एक यह है :—

जननी-जन्मभूमि, हितकारी !

पावत तुमसों प्रतिपल जल-थल-नभ अनल, बयारी !!

'शंखनाद' इनकी प्रथम प्रकाशित राष्ट्रीय रचना है। 'प्रलयवीणा' प्रलयवादी भाव-धारा की प्रमुख कृति है।

आपने कहानियाँ और एकांकी नाटक भी लिखे हैं, एकांकियों का संग्रह 'राम-रहमान' है। आप सशक्त आलोचक भी हैं। इस क्षेत्र में आपकी कृति 'हिन्दी कविता का क्रांतियुग' युगांतरकारिणी है। आजकल आप वनस्थली विद्यापीठ के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

बापू

बापू ! तुम हो मानव ? अथवा
विभु हो विमल विभूत !
चक्रकेतु भारत के रथ के
सूत्रधार स्वर्दूत !

तुम्हारे उद्भव से घुल चले
विकल संसृति के पाप
तड़प रही थी मानवता सह
पारतन्त्र्य-अभिशाप

सिहर उठे तुम देख जगत का
परिपीड़न - सन्ताप
लेकर सत्याग्रह का अमरण
आयुध अथक अपाप !

प्राणों में भर त्याग, देह में
व्रत-बल, बुद्धि अकूत
कूद पड़े तुम कर्माङ्गण में
कर्मचन्द्र के पूत !

जड़-जर्जर था पड़ा सिसकता
जग - जीवन अनिमेष
सुलग रहा था मानवता में
महा अनल - सा द्वेष

हुई सहसा ही "यदा यदा हि"
गिरा क्षिति पर उद्भूत

सब से प्रथम छुए तुमने ही
इतने कोटि अछूत !

हरिजन हुए आज तुमसे फिर
ये अन्त्यज अवधूत !
बिखरी ग्राम-शक्ति को बाँधा
कात-कातकर सूत !

आप नग्न रह-रह पहनाया
नग्नों को वर वेश !
मांसल किया लोक को बनकर
स्वयम् अस्थित्वावशेष !

भरणी धरणी पर लोहित का
लखकर भीष्म विलास
घर ही के आँगन में होते
निठुर नरक का हास

पिघलकर बहा तुम्हारा प्राण
हुआ विह्वल हृदेश

'अक्रोधेन जयेत्क्रोधम्' का
सुन अक्षर सन्देश
स्नेह-अहिंसा-शांति-सत्य का
लेकर मन्त्र अशेष

देव ! तुम्हारी ओर विश्व है
देख रहा अनिमेष

तुम में प्रकट प्रपीड़ित जग का
वह विराट उल्लास !

विश्वम्भर आत्मा का तुम में
शिव-सुन्दर आभास !!

अडिग तुम्हारा ध्येय अजित बल
पौरुष - शौर्य्य अगाध

दिव्य दृष्टिमय चक्षु तुम्हारे
कर्म - पन्थ निर्बाध

अहिंसा वर्म, शांति शुचि मन्त्र
सत्य है शाश्वत ढाल

अहो ऐन्द्रजालिक ! दिखलाकर
अपना तेज विशाल

नचा रहे हो तुम इंगित पर
पाशव बल विकराल !

मन्त्रमुग्धवत् काँप रहे ये
शासन - यन्त्र कराल

जीवन में, प्राणों में जाग्रत
आज तुम्हारी साध

आर्य ! तुम्हारे चरण-चिह्न पर
चलता चित्त अबाध

गाया तुमने गायक ! ऐसा
अजर - अनश्वर गीत
जन होकर तुम बने जनार्दन,
जग के गीतातीत !

मुहम्मद, गौतम, ईसा, महावीर,
मनु एकाकार !

"मानवता तो चिर-स्वतन्त्र है,
पारतन्त्र्य है भार !
स्नेह (अहिंसा) से सुरपुर है
यह वसुधा - परिवार
जन की सेवा ही जन को है
खुला स्वर्ग का द्वार !"

यही अमर सन्देश तुम्हारा
व्रत यह परम पुनीत
'नहीं अनृत की किन्तु सत्य की
सतत जगत् में जीत ।'

साध्य सत्य को और अहिंसा
उसका साधन मान
चले लुटाने कई बार तुम
पावन अपने प्राण
खोजने, ले प्राणों का दीप,
अमरता का वरदान !

प्राणों के शोणित से धोने
जग के कलुष-विधान
संसृति को पीयूष पिलाने
काल कूट कर पान

ओ प्रलयंकर, शिव-शंकर ओ!
अभयंकर भगवान!

अमिट सत्य के अमर उपासक!
साधक, सुधी महान!
गाता पीड़ित जग का कण-कण
ऋषे! तुम्हारा गान!

मानवता के अमर पुजारी!
विभु की भव्य विभूति!
करुणाकर की करुणा-छाया!
करुणामय अनुभूति!

तुम्हारे उर से बहती
विश्वप्रेम-धारा अनिरुद्ध
परमहंस ओ! चरम तपस्वी!
शान्त! अश्रान्त! प्रबुद्ध!
भागीरथ! दधीचि! योगीश्वर!
शुद्ध! बुद्ध! उद्बुद्ध!
सत्यःसंध अजातशत्रु ओ!
विश्वमित्र अविरुद्ध!

संसृति को वरदान तुम्हारी
अच्युत ! पुण्य प्रसूति
देव, तुम्हारी चरणरेणु है
भाल-भाल की भूति

हे विश्वम्भर के नव-वैभव !
आशुतोष ! अविजेय !!
पुण्य सरस्वतियों के संगम !
करुणालय ! आग्नेय !

करो भव को भव-सम्भव देव !
आज दिव का वर दान
नर के वन्दनीय नारायण !
जगत-जनार्द्दन प्राण !
आत्मसत्त्व के ओ अन्वेषक !
ब्रह्माचरण - निदान !
आर्य ! संतसत्तम ! पुरुषोत्तम !
सत शिव महा महान् !

अपरिमेय हे, अप्रमेय हे,
प्रेय, श्रेय, अज्ञेय !
जय हो, जय हो हे मृत्युञ्जय !
अनुपम, अकथ, अगेय !

* * *

दान का प्रतिदान

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ !

फूँक से तुमने दिये हैं वेणु के सब रन्ध्र ये भर,
मृदुलता उसको मिली कोमल तुम्हारे ओठ छूकर,
मधुर ममता के परस से धुल गई उसमें मधुरिमा,
आज मुखरित हो उठी वह अंगुलियों का स्पर्श पा कर,
स्वर मुझे तुमने दिया, मैं गान तुमको दे रहा हूँ !

नयन-पट पर जो दिवस में चित्र खिंच आते अमंगल,
ढालता धो यामिनी में भर पलक में स्वप्न का जल,
भाव हैं, फिर भावना भी किन्तु एक अभाव तुम हो,
खोज में जिसकी निरन्तर लीन है पुतली अचँचल,
मन मुझे तुमने दिया मैं ध्यान तुमको दे रहा हूँ !

मृत्तिका के कुछ कणों में लिया अमृत बाँध मैंने,
कलश के कुछ बिन्दुओं में सिन्धु पाया साध मैंने,
अमृत-बिन्दु रहे कहाँ, हाँ श्वास-सौरभ बस गया है,
पुतलियों में है चुराया मधुर रूप अगाध मैंने !
कण मुझे तुमने दिया मैं प्राण तुमको दे रहा हूँ।

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ।

* * *

राजसूय यज्ञ

राजसूय यह यज्ञ विभीषण !

संसृति के विशाल मण्डप में यह भीषण विराट आयोजन !
समिधि बने हैं आज राष्ट्र ये हिंसा का जल रहा हुताशन !
वसुन्धरा की महावेदिका धधक उठी है हवन-कुण्ड बन !
पहन प्रौढ़ दुर्भेद्य लौह के वसन रक्तरञ्जित दानवगण !
मानव के शोणित का घृत ले नरमुण्डों के ले अक्षतकण !
विध्वंसों पर अट्टहास भर-भर कर-कर स्वाहा-उच्चारण !
होम कर रहे लक्ष करों में लिये श्रुवा शस्त्रों के भीषण !
करता है साम्राज्यवाद का विजयघोष अम्बर में गर्जन !
तुमुल-नादकारी विस्फोटक करते साम-मन्त्र का गायन !
अग्नियों का धूम-पुञ्ज कर रहा निरन्तर गगन-विकम्पन !
अवभृत इन्हें कराने आये क्यों न प्रलय ही सिन्धु-लहर बन ?

राजसूय यह यज्ञ विभीषण !

* * *

नगीनचन्द्र ‘प्रदीप’

परिचय

जन्म संवत् १९७७

'प्रदीप' जी का जन्म एक सम्पन्न और प्रतिष्ठित क्षत्रियकुल में दिल्ली में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीयुत रत्नचन्द्र जी सहगल है।

आपको आरम्भ ही से हिन्दी कवियों—तुलसी, सूर, जायसी आदि के प्रति गहरी श्रद्धा और अनुरक्ति है। और इन्हीं की कविताओं से आपको हिन्दी सेवा का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कालिज-जीवन में संस्कृत और हिन्दी साहित्य आपके प्रिय विषय रहे हैं। आजकल आप अंग्रेजी एम० ए० परीक्षा की तैयारी और हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी-साहित्य का अनुवाद भी कर रहे हैं। 'प्रदीप' जी एक होनहार नवयुवक कवि हैं। हिन्दी साहित्य को आप से बहुत कुछ आशा है।

'जीवन-वीणा' आपकी कविताओं का सुन्दर संग्रह है। इसके अतिरिक्त 'कामना' और 'माण्डवी' नामक दो एकांकी नाटक भी आपके अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़े हैं।

आरती

आज सैनिक कर रहे हैं रक्त-रञ्जित आरती !

मृदुल मङ्गलाचार होता,
तू अकेला आज सोता,

देख मानवता जगी वरदान देती भारती !
आज सैनिक कर रहे हैं रक्त-रञ्जित आरती !

मनुजता अब उठ खड़ी है,
आज विप्लव की घड़ी है,

देख तो उन्मुक्त टोली प्राण जीवन वारती !
आज सैनिक कर रहे हैं रक्त-रञ्जित आरती !

भारती की अर्चना है,
प्रलय की सी गर्जना है,

ले प्रलय शस्त्रास्त्र माँ से सैन्य है हुङ्कारती !
आज सैनिक कर रहे हैं रक्त-रञ्जित आरती !

है विजय से ग्रन्थि-बन्धन
मूल्य में दे वित्त तन-मन

आज सौदा हो गया है, लो पराजय हारती !
आज सैनिक कर रहे हैं रक्त-रञ्जित आरती !

आज बन्धन चूर करदें,
सब गुलामी दूर करदें,

मयच जीवन वार डालें दो यही वर भारती !
आज सैनिक कर रहे हैं रक्त रञ्जित आरती !

सजल नेत्र

आज माँ के नयन में जल,
आज माँ का प्रस्फुटित स्वर,
आज माँ का गात जर्जर,
आज माँ का व्यथित मानस आज माँ का क्षीण आञ्चल,
आज माँ के नयन में जल !
आज है बलिदान अवसर,
प्राण—आहुती डाल, सत्वर,
बढ़ चलो इस क्रान्ति का पीकर हलाहल,
आज माँ के नयन में जल !
अब बाजी है युद्ध—भेरी
आज होती प्रलय—फेरी
आज विप्लव मच उठेगा शेष हैं—दो—चार ही पल
आज माँ के नयन में जल !
आज धधकी प्रलय—ज्वाला,
पूर्ण कर दो शीश—माला,
आज बरसेगा रुधिर हैं आज छाये प्रलय—बादल।
आज माँ के नयन में जल !
गा प्रलय के गान सारे
ले मिटा अरमान सारे
आज होवे शङ्ख-ध्वनि से विश्व में विस्फोट, हलचल
आज माँ के नयन में जल !

श्री गोपाल प्रसाद व्यास

परिचय

जन्म संवत् १९७०

आप ठेठ ब्रजवासी एवं प्राचीन कविता के अनन्य प्रेमी और भावुक कवि हैं। अजकल आप भारत के सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्र 'हिन्दुस्तान' में सहकारी सम्पादक के पद पर काम कर रहे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा मथुरा में हुई। सन् १९३०-१९३१ के राष्ट्रीय असहयोग-आन्दोलन में आपने कालिज-शिक्षा को तिल.जली दी। ३ वर्ष तक आगरा से प्रकाशित होने वाले, साहित्य सन्देश' के सहकारी सम्पादक रहे। "ब्रजभाषा कोष" के सम्पादन में श्री द्वारकाप्रसाद जी चतुर्वेदी के सहकारी सम्पादक रहे। आप सुकवि होने के साथ सहृदय समालोचक भी हैं। आपकी रचनाएँ प्रधानतः हास्य-व्यंग्य लिए रहती हैं। आज़ाद हिन्द फ़ौज के सम्बन्धमें कदम कदम वढ़ाए जा' नामक आपकी रचन का राष्ट्र ने पर्याप्त स्वागत किया है।

सर्वस्व-समर्पण

यह धन ही क्या जो पड़ा रहे,
धरती में गड़कर दब जाये।
या बाँधा जाय थैलियों में,
सन्दूकों में जा छिप जाये।
जो बन्द तिजोरी में रहता,
वह स्वर्ण नहीं है मट्टी है।
जो नहीं देशहित में आये,
वह धन धोखे की टट्टी है।
हम तो उसको धन कहते हैं,
जो काम गरीबों के आये।
थैली की डोरी काट चले,
आज़ाद देश को करवाये।
यों धनिक जगत में बहुतेरे,
पर भामाशाह अकेले थे।
जो अपने धन से स्वतन्त्रता की,
होली खुल कर खेले थे।
र्मा में भी धन वालों ने,
तब खुल कर पुण्य कमाया था।
आज़ाद फ़ौज पर जी भरकर,
सोना - चाँदी बरसाया था।
आज़ाद फ़ौज ने नहीं ख़ज़ाना,
हथियारों से पाया था।

उसने डिफेन्स कानून नहीं,
शोषण का कोई बनाया था।
वह जनता के प्रेमोपहार से,
बूँद-बूँद कर आता था।
जिससे आज़ादी का तलाब,
भरता था, बढ़ता जाता था।
बाबू सुभाष तब घूम-घूम कर,
बड़ी सभाएँ करते थे।
सैंकड़ों कोस के लोग जिन्हें,
सुनने को उमड़े पड़ते थे।
नन्हें-नन्हें बच्चे आते,
कोमल-कोमल तुतलाते-से।
नवयुवक ताव में आते थे,
मूछों पर हाथ फिराते-से।
बुड्ढे लकड़ी ले हाथ चले,
आते थे ज्वानी छाई थी।
सारे बर्मा में नई चेतना,
आज़ादी की आई थी।
आज़ादी के पैग़म्बर ने,
ऐसा सन्देश सुनाया था।
मुर्दे कब्रों से जाग उठे,
ज़िन्दों ने जीवन पाया था।
आँधी, पानी, बरसात, बिजलियाँ,
उन्हें रोक कब पाती थीं।

लाखों की संख्या में जनता,
भाषण सुनने को आती थी।
उस भव्य सभा के लिये,
तिरंगा मंच सजाया जाता था।
चर्खे वाला कौमी झण्डा,
उस पर लहराया जाता था।
सब से पहले नेताजी को,
जयमाल पिन्हाई जाती थी।
भाषण के बाद वही माला,
नीलाम कराई जाती थी।
श्रोता अपना सर्वस्व निछावर,
जयमाला पर करते थे।
लोगों के दल-के-दल उसको,
लेने को उमड़े पड़ते थे।
रंगून नगर में एक बार,
जयमाला की जय होली थी।
पहली ही बोली किसी बीर ने,
लाख रुपये की बोली थी।
फिर क्या था बढ़ दो लाख हुए,
ध्वनि पाँच लाख की छाई थी।
फिर सात लाख के लिए किसी ने,
चढ़ आवाज़ लगाई थी।
आगे चल कर नौ लाख हुए,
उत्साह न आज समाता था।

बोली का सौदा लाखों में,
आगे ही बढ़ता जाता था।
पर सहसा बोली बन्द हुई,
एक युवक सामने आया था।
जयमाला पर जिसने अपना,
अन्तिम सर्वस्व लगाया था।
वह पंजाबी सौदागर था,
एक उठती हुई जवानी का।
जिसने रक्खा था मान खरा,
झेलम-चिनाब के पानी का।
लोगों ने उसको उठा लिया,
गौरव से गले लगाया था।
फूलों की जयमाला लेकर,
इसने सर्वस्व चढ़ाया था।
दूसरे रोज़ सब कुछ बेचा,
बेची दुकानदारी सारी।
घर बेच दिया, ज़र बेच दिया,
बेची दुकानदारी प्यारी।
वह बारह लाख रुपये अपना,
सर्वस्व बेचकर लाया था।
नेताजी, के शुभ चरणों में,
श्रद्धा से भेंट चढ़ाया था।
बोले सुभाष, "शाबाश वीर।
पर मत ख़ुद को बिस्मार करो।

लो पाँच लाख जाकर इन से,
दूसरा कोई रुजगार करो।"
वह एक कदम हटकर बोला,
"अब छूना इसे गुनाह मुझे।
नेताजी, इस धन-दौलत की,
अब रही नहीं परवाह मुझे।
यह धन-पूँजी ही तो जग में,
उत्पन्न गुलामी करते हैं।
पूँजी हथियाने ही को तो,
दो राष्ट्र जूझ कर मरते हैं।
इस पूँजीवादी चक्कर ने,
दुनिया को नाच नचाया है।
दुर्भिक्ष, दीनता कंगाली,
सब पूँजी की ही माया है।
मुझ को इस धन से क्या करना,
आज़ाद फौज में जाता हूँ।
आज़ादी के दीवानों में,
आगे से नाम लिखाता हूँ।
देखा दुनिया ने जो कि कभी,
सोने-चाँदी में पलता था।
वह आज हर्ष से सेना में,
संगीन उठाये चलता था।

* * *

मौन-निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धारा;
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इङ्गित करता तब मौन!

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन?

स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग-कुल की कल-कण्ठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने, अलस-पलक-दल कौन
खिला देता तब मेरे मौन!

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कंपा देती तन्द्रा के तार;
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे तब पथ दिखलाता मौन ?
(सुमित्रानंदन पंत)

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता॥
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता भाग्य विधाता से क्या पाते—
घूँट आँसुओं के पी कर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो, अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,

अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।
(सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला')

मेरा जीवन

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देववीणा का टूटा तार।
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृंगार॥
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन॥
क्षीर निधि की थी सुप्त तरंग, सरलता का न्यारा निर्झर।
हमारा वह सोने का स्वप्न, प्रेम की चमकीली आकर॥
शुभ्र जो था निर्मेघ गगन, सुभग मेरा संगी जीवन॥
अ[illegible]त आ किसने चुपचाप, सुना करके सम्मोहन तान।
दिखाकर माया का साम्राज्य, बना डाला इसको अज्ञान॥
मोह-मदिरा का आस्वादन, किया क्यों है भोले जीवन!
तुम्हें ठुकराता है नैराश्य, हँसा जाती है तुम को आश।
नचाता है तुमको संसार, लुभाता है तृष्णा का हास॥
मानते विष को संजीवन, मुग्ध, मेरे भूले जीवन!
न रहता भौंरों का आह्वान, नहीं रहता फूलों का राज।
कोकिला होती अन्तरध्यान, चला जाता प्यारा ऋतुराज॥
असम्भव है चिरसम्मेलन, न भूलो क्षण-भंगुर जीवन॥
विकसते, मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द।
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द।
यहाँ किसका अनन्त यौवन? अरे अस्थिर छोटे जीवन।
शून्य से हो जाओ गम्भीर, त्याग की हो जाओ झंकार
इसी छोटे प्याले में आज, डुबा डालो सारा संसार
लजा जायें यह मुग्ध सुमन, बनो ऐसे छोटे जीवन।

(महादेवी वर्मा एम० ए०)